'तदधीते तद्वेद' इत्यादि अर्थ में भी काठक, कौथुम आदि शब्दों की निष्पत्ति होती है। पाणिनीय सूत्र दोनों ही प्रकार के हैं। इस तरह समाख्या अन्यथासिद्ध है। इससे काठकादि शाखा के निर्माता कठादि सिद्ध नहीं होते, किन्तु कठादि उन शाखाओं के प्रवक्ता ही सिद्ध होते हैं।

पूर्वपक्षी काठकादि समाख्याओं द्वारा वेद को पौरुषेय सिद्ध-कर उनके स्वतःप्रामाण्य का खण्डन करना चाहता है। किन्तु उसके पक्ष में तीन दोष होंगे। पहला तो यह कि समाख्या अन्य प्रमाणों की अपेक्षा दुर्बल प्रमाण होता है। श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण प्रमाण उससे प्रबल हैं। अश्वकर्ण आदि समाख्या (यौगिक शब्द) अवयवार्थ की अपेक्षा न कर वृक्षविशेष में पर्यवसित होती है। व्यवहार में चलती चीज को गाड़ी, बने हुए दूध को खोआ कहा जाता है। ऐसी दुर्बल एवं अल्पीयसी समाख्या के बल पर श्रुति जैसे प्रबलप्रमाणरूप, स्पष्टवादी महान् शब्द-राशि वेद का अप्रामाण्य कहना सर्वथा असंगत है।

यदि कहा जाय कि 'समाख्या के द्वारा पौरुषेयता ही साधित करना अभीष्ट है, वेदों का अप्रामाण्य साधन नहीं; तो यह कहना भी ठीक नहीं है। क्योंकि पौरुषेयता सिद्ध हो जाने पर वेदों का प्रामाण्य सिद्ध करना दुष्कर ही होगा। जैसे कोई कहे कि 'मैं केवल तुम्हारा शिर ही काटूँगा, मारूँगा नहीं', वैसे ही यह भी कहना है कि 'हमें पौरुषेयता ही सिद्ध करना है, अप्रामाण्य नहीं।' जैसे शिर काटने पर मरना अनिवार्य हो जाता है, वैसे ही पौरुषेयता सिद्ध होने पर वेदों का अप्रामाण्य भी अनिवार्य ही है। दूसरे यह कि वेद के लिए समाख्या है, समाख्या के लिए वेद नहीं। अतः अप्रधान प्रमाण से प्रधानभूत वेद का अप्रामाण्य सिद्ध करना भी मूर्खता ही है। तीसरे यह कि दो-चार अक्षरों की

समाख्या के बल पर महान् शब्दराशि वेद का अप्रामाण्य कहना वैसा ही असंभव है, जैसे चने का भाड़ फोड़ना। ऐसी स्थिति में जैसे अश्वकर्ण आदि शब्द अक्षरार्थ के बिना ही वृक्ष आदि के वाचक होते हैं, वैसे ही काठक, कौथुमक, तैत्तिरीयक आदि समाख्याएँ उन-उन शाखाओं की रूढ़ (अवयवार्थरहित) संज्ञाएँ हैं। काठक आदि नामों से उन-उन शाखाओं का व्यवहार चलाना ही उनका प्रयोजन है।

किन्तु "श्रुतिसामान्यमात्रम्" इस सूत्र द्वारा जैसे बर्बरादि शब्दों को रूढ़ माना गया है, वैसे ही यहाँ भी काठक आदि शब्द शाख-विशेष में रूढ़ हैं। सहस्रों अध्येता एवं अध्यापकों के होने पर भी काठकादि समाख्या कठ के नाम पर ही हुई। जैसे अनेक की माता होने पर भी देवदत्त की ही माता का व्यवहार होता है, वैसे ही प्रकृत में भी समझना चाहिए। जैसे डित्थ, डवित्थ की समान रूप से माता होने पर भी, व्यवहार डित्थ की माता होने का ही होता है, वैसे ही काठकादि शाखाएँ, चाहे अनेक पुरुषों से पढ़ी-पढ़ायी जायँ, फिर भी काठकादि समाख्याएँ हो सकती हैं।

यद्यपि जिस तरह कठ के पढ़ाने से उस शास्त्र का नाम 'काठक' पड़ा, उसी तरह अन्य अध्यापकों के नामों से उन शाखाओं की प्रसिद्धि होनी चाहिए थी। फिर भी किसी अध्यापक का इससे कुछ लाभ नहीं है। समाख्या केवल व्यवहार के लिए होती है, सो भी अनादि वेद के समान भी अनादि ही है। हम देखते ही हैं कि अनेक ऋषियों से सेवित होने पर भी तीर्थ मार्कण्डेय और अगस्त्य आदि ऋषियों के नाम से ही प्रसिद्ध हैं। इसके सिवा जिस दूसरे अध्यापक के नाम से शाखा की प्रसिद्धि

होती, तो उसके लिए भी यही कहा जा सकता था कि अन्य अध्यापकों के नाम से समाख्या क्यों नहीं हुई? व्यवहार एक नाम से चल सकता है, अतः अनेक के नामों से समाख्या का बनना व्यर्थ है। इसी प्रकार सत्र याग में यजमान अनेक होते हैं, परन्तु किसी एक ही यजमान के नाम से यूप-निर्माण होता है। सीता अशोक-वाटिका में ही क्यों रखी गयीं, इस प्रश्न के समान ही यह भी प्रश्न है।

जो लोग समाख्या द्वारा वेदों की पौरुषेयता सिद्ध करते हैं, उन्हें यह बतलाना चाहिए कि यह समाख्या नित्य है या अनित्य? अर्थात् यह किसी पुरुष से बनायी हुई है या नहीं। यदि समाख्या नित्य मानी जाय, तब तो वह पुरुष के अनुसार नहीं कही जा सकती। फिर उसके द्वारा पौरुषेयता की सिद्धि की आशा ही व्यर्थ है। यदि समाख्या पौरुषेय या किसी पुरुष की बनायी समझी जाय, तब भी वह जिसकी बनायी हुई है, उसके सत्यवादी होने में क्या प्रमाण है? ऐसी स्थिति में वह समाख्या भी अप्रमाण ही है। फिर उसके द्वारा वेद के कर्ता की सिद्धि भी नहीं की जा सकती। अतः समख्या द्वारा वेद की अपौरुषेयता को कथमपि अप्रमाण सिद्ध नहीं किया जा सकता।

नैयायिक आदि लोग 'विश्वरूप कार्य से उसके एक सर्वज्ञ, सवशक्तिमान् कर्ता का अनुमानकर उसे ही वेदों का कर्ता मान लेते हैं।' किन्तु यदि ऐसी बात होती, तो अवश्य ही वेदों के कर्तारूप से उस परमेश्वर की प्रसिद्धि होती। नित्य आकाश के रहने पर भी, परमेश्वर के विश्वकर्तृत्व में कोई बाधा नहीं खड़ी होती। पूर्वोक्त प्रकार से जब शब्दों की नित्यता सिद्ध होती है, तब परमेश्वर को उनका कर्ता मानना निरर्थक है। वेदों का

कर्ता न मानने पर भी परमेश्वर के विश्वकर्तृत्व में कोई बाधा नहीं पड़ती।

कुछ लोग कहते हैं कि 'गौ आदि व्यक्ति अनित्य हैं। गौ आदि शब्दों का संकेत कभी किसी पुरुष आदि के द्वारा ही किया गया होगा, जैसे कि पुत्र उत्पन्न होने पर पिता उसका नामकरण करता है। ऐसी स्थिति में अनित्य संकेतवाले शब्दों का ही वेदों में प्रयोग होता है। अतः वेद भी अनित्य ही होंगे। इसके अतिरिक्त कितने ही ऐसे व्यक्तियों के नाम आये हैं, जिनके जन्म-मरण का निश्चय है ही। जैसे—"बर्बरः प्रावहणि-रजायत।" अर्थात् प्रावहणि का पुत्र बर्बर पैदा हुआ।"कुस्तुविन्द-रौद्दालकिरकामयत"—उद्दालक के पुत्र कुस्तुविन्द ने कामना की। यहाँ कहना ही पड़ता है कि बर्बर और कुस्तुविन्द आदि व्यक्तियों की उत्पत्ति से पहले ये शब्द नहीं थे। जिस पुरुष या जिस घटना का जिस प्रकार ग्रन्थ में वर्णन है, वह ग्रन्थ अवश्य ही उस पुरुषों या उन घटनाओं के पश्चात् बना है! प्रावहण का पुत्र बर्बर व्यक्ति है, वह नित्य नहीं हो सकता। फिर ऐसे अनित्य अर्थवाले अनित्य शब्दों का प्रयोग वेदों में आ ही रहे हैं। तब उन्हें पौरुषेय कहने में क्या आपत्ति हो सकती हैं?'

वस्तुतः ये ही सब बातें "अनित्यदर्शनाच्च" इत्यादि सूत्रों से कही गयी हैं। आधुनिक लोगों की भी प्रधान युक्ति यही है कि 'वेदों में अमुक व्यक्ति या अमुक पर्वत या नदी या घटनाएँ वर्णित हैं। अतः इन सब बातों का जिस ग्रन्थ में वर्णन हो, उस ग्रन्थ का इन सबके बाद ही बनना अवश्य मानना चाहिए।' अतएव नदियों और व्यक्तियों के कालनिश्चय से वेदों का भी कालनिर्णय किया जाता है। साथ ही यह भी को सिद्ध

करने का भी प्रयास किया जाता है, कि जिन पहाड़ों या नदियों का वर्णन वेदों में है, उन-उन देशों में वेदों का निर्माण और वैदिक संस्कृति का विस्तार मानना चाहिए।

यह भी शङ्का प्राचीन ही है कि 'वनस्पतयः सत्रमासते गावो वा सत्रमासते'—'वनस्पति एवं गायों ने सत्र किया'—ये सब वाक्य सर्वथा उन्मत्तालाप के समान हैं। इन सब बातों का समाधान 'परन्तु श्रुतिसामान्यमात्रम्' इस सूत्र से जैमिनि ने किया है। सूत्र का आशय यह कि बबर आदि शब्दों का किसी पुरुष-विशेष में तात्पर्य नहीं है, क्योंकि वहाँ उस पुरुष की उत्पत्ति और जीवनचरित्रादि कुछ भी नहीं वर्णित है। जैसे आख्यायिकाओं एवम् उपन्यासों में देवदत्त, यज्ञदत्त आदि कल्पित नामों का उपयोग किया जाता है, उसी तरह इन नामों का भी उपयोग समझना चाहिए।

किसी भी सिद्धान्त या गणित को समझाने के लिए एक आख्यायिका गढ़ ली जाती है। उसकी घटना और उसके नाम सभी कल्पित होते हैं। उनकी सचाई से वहां कोई भी प्रयोजन नहीं रहता। अतः इन शब्दों के आधार पर किसी देश-विशेष, जाति-विशेष, पुरुष-विशेष या वस्तुविशेष का निर्णय नहीं किया जा सकता।

यद्यपि उत्तरमीमांसकों के अनुसार प्रमाणान्तरों से अविरुद्ध कोई आख्यायिका स्वार्थ में भी तात्पर्यवाली हो सकती है। फिर भी वेदों की नित्यता, अनादिता और अपौरुषेयता का प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियों एवं युक्तियों से विरुद्ध होने के कारण इन आख्यायिकाओं या नामों द्वारा वेदों की पौरुषेयता सिद्ध नहीं हो सकती। इसके सिवा वेद के शब्दों द्वारा विश्व की सृष्टि

मानी गयी है—"शब्द इति चेन्नातः प्रभावात्।" जब समस्त ब्रह्माण्डों की ही उत्पत्ति शब्दों के आधार पर है, तो सभीका वर्णन वेदों में रहेगा। फिर किसी खण्ड या देश का वर्णन हो या न हो अतः वेदों के किसी देश या काल में बनने की कल्पना सर्वथा निराधार है।

जिसमें शब्दों का तात्पर्य होता है, वही शब्दार्थ होता है "यत्परः शब्दः स शब्दार्थः।" जब लौकिक आख्यायिकाओं के नामों द्वारा भी किसी व्यक्ति-विशेष का निरूपण नहीं किया जा सकता, फिर बर्बरादि कल्पित नामों से अपौरुषेय नित्य वेदों की पौरुषेयता या अप्रामाण्य कैसे सिद्ध किया जा सकता है? 'वृक्षों ने यज्ञ किया,' गौओं ने सत्र किया,' इन वचनों में भी कोई दोष नहीं है, क्योंकि पदों के सम्बन्धादि यहाँ निर्दोष है। यह समझना ठीक नहीं है कि अचेतन वृक्ष आदि में यज्ञ करने की सामर्थ्य नहीं है, अतः असम्भव बात कहनेवाले वाक्य के अर्थ का बाध होता है; क्योंकि यहाँ अर्थबाध गुण ही है, दोष नहीं।

'मम माता वन्ध्या' यह वचन विरुद्ध र्थक है। किन्तु जहाँ ऐसे वाक्यों का स्वार्थ में तात्पर्य न होकर किसी विधेय की स्तुति वा निषेध की निन्दा में ही तात्पर्य हो, वहाँ तो वाच्यार्थ का बाधित होना कोई दूषण ही नहीं है। जैसे, लोग बोला करते हैं कि 'श्रीगुरुचरणपङ्कज-रजःकण ही समस्त शङ्काओं को मिटा देते हैं, फिर गुरुओं की बात क्या है?' यहाँ यदि शङ्का उठायी जाय, तो उसका समाधान बृहस्पति भी नहीं कर सकते।

ऐसे स्थलों में वाच्यार्थं के बाधित होने से ही गुरुस्तुति

आदि में तात्पर्य निर्णीत होता है। यदि वाच्यार्थ का बाध न हो, तब तो अन्य वाक्यों की तरह पूर्वोक्त वाक्यों का भी स्वार्थ में ही तात्पर्य हो जायगा। फिर गुरु की स्तुति आदि अर्थ ही नहीं निकाला जा सकता। इसी तरह 'मेरी माता वन्ध्या ही है, यदि मैंने भगवान् की सेवा न की' इसका भी तात्पर्य यही है कि भगवान् के भजन के बिना जन्म ही व्यर्थ होता है। अतः ऐसे वाक्य उन्मत्त-वाक्य नहीं हो सकते। ऐसे ही 'अपशवो वा अन्ये गोऽश्वेभ्यः', (गो-अश्व आदि से अन्य महिष आदि पशु ही नहीं हैं) इस वाक्य का भी तात्पर्य गो-अश्व पशु की प्रशंसा में ही है। ठीक इसी तरह सत्रों का माहात्म्य-वर्णन है कि 'देखो सत्र इतने श्रेष्ठ हैं कि वृक्ष, गाय आदि अचेतन और अयोग्य भी उनका अनुष्ठान करते हैं, फिर मनुष्यों को तो अवश्य ही उनका अनुष्ठान करना चाहिए।'

यही बातें पराशर-स्मृति में कही गयी हैं—

"न कश्चिद्वेदकर्ता च वेदं स्मृत्वा चतुर्मुखः।
तथैव धर्मान् स्मरति मनुः कल्पान्तरान्तरे॥"

कोई भी वेदकर्ता नहीं है, चतुर्मुख या मनु आदि सुप्तप्रतिबुद्ध न्याय से पूर्व सृष्टि के ही वेदों का स्मरणकर उपदेश करते हैं। यहाँतक कि परमेश्वर भी वेदों का कर्ता नहीं है। यह बात मत्स्यपुराण में भी स्पष्ट है—

"अस्य वेदस्य सर्वज्ञः कल्पादौ परमेश्वरः ।
व्यञ्जकः केवलं विप्राः नैव कर्ता न संशयः ॥"

अतः स्पष्ट है कि परमेश्वर भी कल्पादि में नित्यसिद्ध वेद को केवल प्रकट करते हैं, बनाते नहीं।

यद्यपि उत्तर-मीमांसा के "शास्त्रयोनित्वाधिकरण" में भगवान् बादनारायण ने जगत्कारण परब्रह्म की सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ता को सुदृढ़ करने के लिए "शास्त्रयोनित्वात्" इस सूत्र से परमेश्वर को शास्त्र का भी कारण कहा है। इससे वेदों के भी ईश्वर रचित होने के कारण उनमें पौरुषेयता, अनित्यता आदि की प्रतीति होती है। किन्तु बादरायण ने ही "अत एव च नित्यत्वम्" इस सूत्र से वेदों को नित्य कहा है। अतः इन दोनों सूत्रों का समन्वय करके ही सूत्रार्थ करना चाहिए।

समन्वय की दृष्टि से देखने पर विदित होगा कि नैयायिक, वैशेषिक प्रभृति वर्ण, पदार्थ और इन दोनों के सम्बन्ध एवं वाक्यों को अनित्य मानते हैं। मीमांसकों का कहना है कि जैसे काल और आकाश नित्य होते हैं, वैसे ही वर्ण भी नित्य हैं। पूर्वमीमांसकों का यह मत उत्तरमीमांसकों को भी मान्य है। पूर्व-मीमांसक विश्व-भेद को सत्य मानते हैं, तो वेदान्ती उसे मिथ्या कहते हैं। तथापि "व्यवहारे भाट्टनयः" के अनुसार व्यवहार में वेदान्तियों को भी भट्ट का ही मत मान्य है। इसी आशय से देवताधिकरण में वर्णात्मक वेदों की व्यावहारिक नित्यता सिद्ध की गयी है। जैसे कवि लोग प्रमाणान्तरों से अर्थों को जानकर अपनी मति

के अनुसार पद और वाक्यों की योजना करते हैं, वेदों की रचना वैसी नहीं है। इसलिए वेद अपौरुषेय हैं। आकाशादि के समान वेद भी ब्रह्म के विवर्त हैं। इसीलिए "शास्त्रयोनित्वात्" इस सूत्र से परमेश्वर को वेद का कारण कहा गया है। भट्टपाद ने भी इसी बात पर ध्यान रखकर कहा है, कि "प्रतिषेध्या नः पुरुषाणां स्वतन्त्रता" अर्थात् भले ही वेद पुरुषोच्चरित या ईश्वर से प्रादुर्भूत हों, किन्तु पुरुषों की स्वतन्त्रता का ही हमें यत्नपूर्वक वारण करना चाहिए। "स्वतन्त्रः कर्ता" इस पाणिनीय सूत्र के अनुसार कर्ता वही हो सकता है, जो क्रिया में स्वातन्त्र्येण विवक्षित हो। वेद का ऐसा कर्ता उत्तरमीमांसक के मत में भी कोई नहीं है।

जैसे आधुनिक ग्रन्थों के निर्माता स्वतन्त्रता से अर्थज्ञान-पूर्वक पदवाक्य की रचना करते हैं; वैसी ही स्वतन्त्रता से अर्थावबोध-पूर्वक वैदिक पद-वाक्यों की योजना नहीं होती। किन्तु जिस तरह वर्तमान काल में छात्रगण आचार्यों के उच्चारणानुसार ही वेदों का उच्चारण करते हैं, पद-वाक्य के बदलने में वे स्वतन्त्र नहीं हैं, उसी तरह परमेश्वर भी पूर्वकल्प की वेदानुपूर्वी का अस्मरण करके दूसरे कल्प में उपदेश करते हैं। वे भी प्राचीन योजना को बदलने या बिगाड़ने में समर्थ नहीं हैं। अतः भले ही वेद पुरुषोच्चरियनो हो, वर्णों और पदों की आनुपूर्वी भी भले ही पुरुषकर्तृक उच्चारण के अधीन हो; तथापि आनुपूर्वी के हेरफेर में ईश्वर तक की स्वतन्त्रता नहीं है।

जैसे नर्तकी शिक्षक-नर्तक के गात्र-विक्षेप का ही अनुकरण करती है, वैसे ही शिष्य आचार्य के उच्चारण का अनुकरण करता है। पद-वाक्यों के आवाप-उद्वाप (रद्दोबदल) में शिष्य का अधिकार नहीं होता। इसी तरह यथाकथञ्चित् वेदों में पुरुष-सम्बन्ध होनेमात्र से उनकी पौरुषेयता नहीं होती। हाँ, यदि पुरुष की योजना में स्वतन्त्रता होती, तब अवश्य वेदों में पौरुषेयता आती।

ब्रह्मा महाकल्प में परमेश्वरप्रदत्त वेदों का स्मरण कर, वहाँ इतस्ततः प्रकीर्ण, वर्णाश्रमधर्मों का संकलनकर स्मृतिग्रन्थ का निर्माण करते हैं। उसी के आधार पर मनु प्रभृति स्मृतिकार भी ग्रन्थ बनाते हैं, जैसा कि मनु ने ही कहा है—

"इदं शास्त्रं तु कृत्वाऽसौ मामेव स्वयमादितः।
विधिवद् ग्राहयामास मारीच्यादीनहं मुनीन्॥"

ब्रह्माने इस शास्त्र को बनाकर मुझे दिया, मैंने मुनियों को दिया। इस तरह कल्पों में इसी स्मृति-ग्रन्थ के आधार पर धर्म-ग्रन्थ बनते हैं। उसी आशय से यह भी कहा गया है—

"युगेष्वावर्तमानेषु धर्मोऽप्यावर्त्तते पुनः।
धर्मेष्वावर्तमानेषु लोकोऽप्यावर्त्तते पुनः॥"

युगों के आवर्तन में धर्म का आवर्तन है, धर्मों के आवर्तन में लोक का भी आवर्तन अवश्य होता है। इस तरह व्यास केवल वेद के विभागकर्ता हैं। ब्रह्मा को भी ईश्वर से ही वेद मिलता है और ईश्वर भी नित्यसिद्ध वेद का प्रकाशकमात्र ही है।

कुछ लोग यह शंका करते हैं कि 'वेदों के अपौरुषेय होने का अर्थ यदि पुरुष से न बनना ही हो, तब तो यह किसी भी प्रमाण से सिद्ध न हो सकेगा, क्योंकि प्रत्यक्ष अनुमान, आगम, अर्थापत्ति

आदि प्रमाणों से तो केवल भाव का ही बोध होता है। किसी पुरुष द्वारा न बनना तो अभाव है। अतः उसका बोध प्रत्यक्षादि से नहीं हो सकता। यदि अभावबोधक अनुपलब्धि से उसका बोध समझा जाय--अर्थात् वेद किसी पुरुष से नहीं रचे गये, यह बात इस तरह ज्ञात होती है कि 'वेद पुरुष से बनाये गये हैं' इस विषय में प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, अर्थापत्ति कोई भी प्रमाण नहीं मिलता। यह भी ठीक नहीं, क्योंकि ऐसा निश्चय होना कठिन है। संसार के सत्पुरुषों में से किसीको भी वेदरचना और उनके काल में कोई प्रमाण नहीं मिला और न मिलेगा ही, इसे कौन जान सकता है? एक प्राणी के मन की भी बात दूसरे को नहीं बिदित होती, फिर सब प्राणियों में से किसीको वेदरचना में प्रमाण नहीं मिला, यह कैसे जाना जाय? यदि मीमांसक को वेदरचना में कोइ प्रमाण न मिलने से ही वेदों की अपौरुषेयता सिद्ध की जाय, तब तो जैनादि शास्त्रों की रचना में भी जैनादिकों को प्रमाण न मिलने से उसके आगमों की भी अपौरुषेयता सिद्ध होगी। जो यह कहा जाता है कि जैनादिकों ने अपने आगमों को पौरुषेय ही माना है, वह भी ठीक नहीं। क्योंकि यदि उनकी बात मान ली जाय, तब तो वेदों को भी पौरुषेय स्वीकार करना चाहिए। यदि इस विषय में उनकी बात अमान्य है, तो वे भले ही अपने ग्रन्थों को पौरुषेय कहें, आपको वह बात कभी मान्य न होनी चाहिए।

"इसके अतिरिक्त कोई भी छोटा-बड़ा समूह किसी एक नवीन या प्राचीन ग्रन्थ के विषय में यदि यह कहे कि 'इसकी रचना में हमें कोई प्रमाण नहीं मिला', तो क्या इतने से ही उस ग्रन्थ की अपौरुषेयता मान ली जा सकती है? यदि नहीं, तो वेदों के विषय में भी मीमांसकों की उक्ति क्यों मान्य हो? ऐसे ही वेद

की अनादिता भी 'आदिता का अभाव' रूप है। अतः उसमें भी प्रत्यक्षादि पाँचों प्रमाणों की प्रवृत्ति न हो सकेगी। अनुपलब्धि से भी ग्रहण मानें, तो क्या सभीने वेद की आदिता में कोई प्रमाण नहीं पाया या कुछ समूह ने? यदि कहें कि सभीने, तो यह असर्वज्ञ पुरुष कैसे जान सकता है? यदि कहा जाय कि कुछ समूह ने आदिता में प्रमाण नहीं पाया, तो इसी तरह दूसरे ग्रन्थों की भी अनादिता क्यों न सिद्ध हो, इत्यादि दोष आ पड़ेंगे।

'यदि वेदों की अपौरुषेयता का अर्थ यह है कि वेद पुरुष-रचित सभी पौरुषेय वस्तुओं से अन्य है,' तो वह भी ठीक नहीं। क्योंकि जिसे सब पौरुषेय वस्तुओं का ज्ञान हो, उसे ही उन वस्तुओं से अन्य वेदों की अपौरुषेयता भी विदित होगी। इस तरह तो अस्मदादि अल्पज्ञों को वेदों की अपौरुषेयता अज्ञात रहेगी। यदि वेदों का अनादिकाल से होना ही अपौरुषेयत्व कहा जाय, तो वह भी ठीक नहीं; क्योंकि अनादिकालों से वेदों के होने में कोई प्रमाण नहीं है। अनादिकाल के ज्ञान का किसी इन्द्रिय से सम्बन्ध नहीं है, अतः उसमें वेदसम्बन्ध का प्रत्यक्ष होना असंभव है। प्रत्यक्ष वर्तमानमात्र का ग्रहण कर सकता है, अतीत का नहीं। अन्यथा अनागत वस्तुओं का भी इन्द्रियों से प्रत्यक्ष ज्ञान होना चाहिए। अनुमान से भी वेद का अनादिकाल-सम्बन्ध सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा कोई अनुमान है ही नहीं। यदि 'अतीत अनागत काल वेदकार-वर्जित है, काल होने से, वर्तमान काल की तरह' इस अनुमान से अपौरुषेयता सिद्ध करना चाहें, तब तो इसी तरह बाइबिल आदिकों के विषय में भी कहा जा सकता है—'अतीत-अनागत काल बाइबिलकार-रहित है, काल होने से, वर्तमान काल की तरह।' शब्द से भी उक्त विषय की सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि पौरुषेय आगम का तो

स्वतंत्र प्रामाण्य ही नहीं है। और अपौरुषेयता अभी तक विवाद-ग्रस्त हो है। अपौरुषेयता-सिद्धि से ही अपौरुषेय वचन द्वारा वेद का अनादिकालसम्बन्ध विदित होगा और अनादिकाल-सम्बन्ध के बोध से ही वेदों की अपौरुषेयता सिद्ध होगी--इस तरह अन्योन्याश्रय दोष भी अनिवार्य होगा।

"हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे" "अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतत्" इत्यादि वचनों से वेदों की पौरुषेयता ही सिद्ध होती है। इसी तरह उपमान, अर्थापत्ति से भी वेदों का अनादिकाल-सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता।

यह भी नहीं कहा जा सकता कि 'वेद प्रमाणान्तर से अगम्य, धर्म, ब्रह्म आदि जैसी वस्तुओं का बोध कराते हैं, जिनका ज्ञान किसी पुरुष को हो ही नहीं सकता, इसलिए वे पुरुषरचित न होने से अपौरुषेय हैं।' कारण यही बात अन्य बौद्धादि आगमों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। यदि उन ग्रन्थों में कहे गये धर्म झूठे माने जायँ, तो वेद में कहे गये धर्म क्यों न झूठे होंगे? यदि अन्य ग्रन्थों में पुरुषसम्बन्ध से तदाश्रित दोषों की कल्पना की जाय, तो यही बात वेदों में भी कही जायगी। यदि वेदों में पुरुषसम्बन्धाभाव सिद्ध करना चाहें, तो फिर उसी प्रमाण से अपौरुषेयता सिद्ध हो सकती है। तब उपर्युक्त कथन से क्या लाभ? यदि उपर्युक्त वेदोक्त अर्थ किसी भी प्रमाण से पुरुष को ज्ञात नहीं हो सकते, अतएव वेद अपौरुषेय हैं, इस अर्थापत्ति से वेद में पुरुषसम्बन्धाभाव सिद्ध करें, तभी वेदों में अप्रामाण्याभाव की सिद्धि होगी। अन्यथा दूसरे आगम की तरह वेदों का भी अप्रामाण्य ही सिद्ध होगा। अप्रामाण्याभाव सिद्ध होने के उपरान्त ही अर्थापत्तिसे पुरुषसम्बन्धाभाव सिद्ध होगा, तब तो इसी तरह आगमान्तर में भी पुरुषसम्बन्धाभाव की सिद्धि प्रसक्त होगी और चक्रक दोष आ पड़ेगा।"

इन सभी शंकाओं का समाधान यह है कि अपौरुषेयत्व का उपर्युक्त कोई भी अर्थ नहीं है। किन्तु यहाँ अपौरुषेय शब्द का यही संकेतित अर्थ है 'कि जिस वाक्य या महावाक्य के समस्त उच्चारण अपने सजातीय अन्य उच्चारण के अनुसारी हों, वे ही अपौरुषेय हैं।

वेद का ऐसा कोई भी उच्चारण सिद्ध नहीं होता, जो अपने सजातीय पूर्वोच्चारण का अनुसारी न हो—"एकानुपूर्वीकवर्णसमुदाय-व्यञ्जकत्वमेवोच्चारणानामन्योन्यसाजात्यम्।"

एक आनुपूर्वीवाले वर्णों के समुदाय की व्यञ्जकता ही उच्चारणों की सजातीयता है। वेद की किसी भी उच्चारण-व्यक्ति में प्रथमता का निर्णय नहीं हो सकता। प्रत्यक्ष, अनुमान या आगम कोई भी ऐसा प्रमाण नहीं है, जिससे यह सिद्ध हो कि वेदका कोई भी उच्चारण स्वसजातीय पूर्वोच्चारण से निरपेक्ष है। अन्यान्य ग्रन्थों के जितने उच्चारण होते हैं, वे तीन प्रकार के होते हैं—एक ग्रन्थकार का उच्चारण, दूसरा, अन्य पुरुष के मौखिक पाठ का अनुसरण करनेवाला उच्चारण और तीसरा, पुस्तक लेख का अनुसारी उच्चारण। इनमें से पहला उच्चारण स्वतंत्र होता है। वह पूर्वोच्चारण का अनुसरण नहीं करता। क्योंकि ग्रन्थकार अपने ज्ञान और रुचि के अनुसार वाक्यों की योजना करता है; दूसरों के वाक्यों का अनुकरण नहीं करता। तभी वह उस वाक्य का रचयिता कहलाता है।

कालिदास आदि के श्लोकों को चाहे पुस्तक से या सुनकर उच्चारण करनेवाला इसीलिए उनका रचयिता नहीं कहलाता कि उसका उच्चारण पुस्तक या किसीके उच्चारण की अपेक्षा रखता है, वह निरपेक्ष नहीं है। रघुवंश-महाकाव्य के निरपेक्ष प्रथम उच्चारयिता कालिदास प्रसिद्ध हैं। महाभारत-

रामायण आदि के उच्चारयिता व्यास, वाल्मीकि आदि सजातीय उच्चारणनिरपेक्ष ही उनका उच्चारण करते हैं। अतः भारत रामायण आदि की पौरुषेयता सर्वमान्य है। परन्तु वेदों का प्रथम उच्चारयिता या सजातीयोच्चारण-निरपेक्ष उच्चारयिता किसी भी अनन्यथासिद्ध प्रमाण से सिद्ध नहीं है। अतः यही उनकी अपौरुषेयता है। उत्तर-मीमांसकों के मत में भी ईश्वर पूर्व कल्प की आनुपूर्वी की अपेक्षा से ही उत्तरकल्प की आनुपूर्वी का उच्चारण करता है। अतः उनके यहाँ भी अपौरुषेयत्व सिद्ध है।

कहा जाता है कि 'यदि प्रमाणानुपलम्भसे यह सिद्ध है, तो क्या सबमेंसे किसीको भी प्रथम उच्चारयिता का प्रमाण नहीं मिलता या समूहविशेष को? यदि किसीको भी प्रमाण नहीं मिलता, तो यह सर्वज्ञ के सिवा और दूसरे को ज्ञात नहीं हो सकता। द्वितीयपक्ष मानने से सभी ग्रन्थों में वही स्थिति खड़ी होगी। परन्तु ये सब विकल्प सर्वथा निरर्थक हैं, क्योंकि ऐसे ही विकल्प किसी भी अनुपलब्धि में उठाये जा सकते हैं। इस दृष्टि से तो शशशृङ्ग, का भी अभाव सिद्ध न होगा और प्रत्यक्षसिद्ध वस्तु का भी अपलाप हो जायगा, क्योंकि शशशृङ्ग या सप्तम रस नहीं हैं, इसमें प्रमाणानुपलम्भ ही हेतु कहा जाता है। परन्तु वहाँ भी ये विकल्प किये जा सकते हैं कि क्या सब प्राणियों को इसका प्रमाण नहीं मिला या मिलेगा या किसीको भी नहीं मिला? सबके विषय में तो कोई क्या जान सकता है? यदि किसीको कहें, तो हम-आपकी प्रत्यक्षसिद्ध वस्तुओं में भी किसीको प्रमाणानुपलम्भ है। अतः इसका भी असत्त्व कहा जा सकता है।' अतः ये सारी उक्तियाँ व्यर्थ हैं।

वेदों के प्रथमोच्चारण में प्रमाण न होने से उनकी अपौरुषेयता में कोई भी विवाद नहीं। ईश्वर, जीव और उसके कर्मों

की अनादिता यदि सिद्ध है, तो उसी तरह ईश्वर के निःश्वासभूत वेदों की अनादिता भी सिद्ध है। किसी भी कार्य के लिए प्रथम विचार या संकल्प अपेक्षित होता है और उसमें शब्द का अनुवेध अवश्य रहता है--'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते' कोई भी ऐसा प्रत्यक्ष (बोध) नहीं, जिसमें शब्द का अनुगम न हो। इस दृष्टि से अनादि ईश्वर को जब-जब सृष्टि रचनी होती है, तब-तब ज्ञान अपेक्षित है और उस ज्ञान में अवश्य ही शब्द का अनुवेध होगा। जिन शब्दों का ईश्वरीय ज्ञान में अनुवेध है, वही वेद हैं। इस तरह भी इनकी अनादिता सिद्ध है। इन प्रकारों से वेदों की अनादिता सिद्ध हो जाने पर "वाचा विरूपनित्यया" "अनादिनिधना नित्या" 'अत एव च नित्यत्वम्' इत्यादि श्रुति-स्मृति-सूत्रों से भी वेदों की नित्यता, अनादिता सिद्ध होती है। उत्पत्ति-प्रतिपादक वचनों का केवल आविर्भाव ही अर्थ है। यह सब विषय ऊपर कहा जा चुका है।

उपर्युक्त बातों का सार यह है कि वेद की पौरुषेयता का साधक अनुमान पीछे खण्डित हो चुका है। 'प्रजापतिर्वेदानसृजत्' इत्यादि श्रुतिवचनों का अर्थ भी पीछे स्पष्ट हो चुका है। पूर्वमीमांसा के अनुसार वेद अनादि हैं, ईश्वररचित नहीं है। वेदान्तदर्शन के अनुसार आकाश आदि के समान वेद भी ब्रह्म के विवर्त हैं। सृष्टिकाल से लेकर प्रलयपर्यन्त रहनेवाले हैं। वेद की अपौरुषेयता दोनों ही मतों में मान्य है। प्रथम मत में ईश्वर आदि सृष्टि के समय वेदों का प्रचार करते हैं, ईश्वर वेदकार नहीं हैं। द्वितीय मत में ईश्वर आदि सृष्टि के समय वेद के आविर्भावक अवश्य हैं, परन्तु स्वतन्त्र नहीं हैं। अर्थात् वाक्यार्थज्ञानपूर्वक वेद-वाक्यों के प्रथम उच्चारयिता नहीं हैं। अतएव वे आनुपूर्वी बदलने में स्वतन्त्र नहीं हैं, किन्तु

पूर्वकल्प की आनुपूर्वी के समान ही उत्तर कल्प में भी आनुपूर्वी का उच्चारण करते हैं। 'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्" इत्यादि श्रुति के अनुसार जैसे ईश्वर इस कल्प में पूर्वकल्प के समान ही सूर्य, चन्द्र, आदि का निर्माण करते हैं, वैसे ही वेदों एवं उनमें कथित धर्म आदि का भी आविर्भाव करते हैं। यह नहीं कि पहले सुरापान, ब्रह्म-हत्या आदि पाप न रहा हो। अन्य कल्प में एक ही आनुपूर्वी अन्य ढंग की रही हो और इस कल्प में अन्य ढङ्ग की हो गयी हो। बीज-अंकुर, स्वाप-प्रबोध एवं जन्म-मरण के तुल्य सृष्टि-संहार की परम्परा अनादि है। इसी तरह वेदोच्चारण की परम्परा भी अनादि ही है। ईश्वर के सभी वेदोच्चारण उन्हींके पूर्व-पूर्वकल्पीय वेदोच्चारणों के तुल्य ही होते हैं। यह भेद अवश्य है कि जीव का वेदोच्चारण गुरु आदि अन्य के उच्चारण का अनुसारी होता है, परन्तु ईश्वर का वेदोच्चारण ईश्वर के ही पूर्व वेदोच्चारण के तुल्य होता है। वेदोच्चारण के सम्बन्ध में जीव एवं ईश्वर दोनों ही परतन्त्र हैं, उसमें कोई विशेषता नहीं है। सभीका वेदोच्चारण पूर्व-पूर्व वेदोच्चारण के अनुरूप ही होता है। जिस प्रकार व्यास आदि महाभारत आदि ग्रंथों के निरपेक्ष उच्चारयिता हैं, उस प्रकार वेद का निरपेक्ष उच्चारण-कर्ता कोई भी नहीं है।

इस प्रकार पूर्वमीमांसक एवं उत्तर-मीमांसक—दोनों ही के मतानुसार पूर्वोच्चारण-सापेक्ष उच्चारण ही अपौरुषेयता है, जो अभावरूप नहीं, किन्तु भावरूप है। अतः अभावपक्ष को लेकर वादियों द्वारा जो भी दूषण दिये गये हैं, वे सब निराधार हैं। वैदिक-परम्परा में 'अग्निमूर्द्धा' पाठ है, तो वैसा ही उच्चारण सबको करना पड़ेगा। 'मूर्द्धा अग्निः' ऐसा उच्चारण अशुद्ध

समझा जायगा है। परन्तु अन्य ग्रंथों में शब्द-भेद या पौर्वापर्य-भेद दूसरा नहीं माना जाता। अतएव अन्य ग्रंथों में उन-उन कर्ताओं का उच्चारण स्वसजातीयोच्चारण-सापेक्ष नहीं होता, अतः उनके उच्चारणों में प्राथम्य होता है। इसके विपरीत वेद के किसी भी उच्चारण में सजातीय उच्चारण की निरपेक्षता नहीं है। सारांश यह कि किसी भी वेदोच्चारण में प्राथम्य नहीं है। जिस प्रकार ईश्वर, और सृष्टि-प्रलय हैं, उसी प्रकार वेदोच्चारण परम्परा भी अनादि है। जिस प्रकार सृष्टि के किसी भी अंश में सर्वथा प्राथम्य नहीं है, वैसे किसी वेदोच्चारण में भी प्राथम्य नहीं है।

मीमांसक यह नहीं कहते कि 'वेद को किसी पुरुष ने नहीं रचा, इसलिए वे अपौरुषेय हैं और बौद्धादिग्रंथ पुरुषों की कृतियाँ हैं, इसलिए वे पौरुषेय हैं।' इसके विपरीत मीमांसकों का कहना यह है कि अन्यान्य ग्रन्थों के कर्ताओं के स्मरण की धारा गुरु-परम्परा तथा अन्यान्य मनुष्यों में आजतक दृढ़रूप से चली आ रही है, अतः उन-उन कर्ताओं का उच्चारण प्रथम उच्चारण है, अतः उच्चारणधारा टूट जाने से अनादि नहीं सिद्ध होती है। इसीसे वे ग्रंथ पौरुषेय सिद्धि होते हैं। किन्तु वेदों के कर्ता की स्मृतिधारा नहीं है। अतएव वेद के विषय में गुरु-शिष्य के उच्चारण की परम्परा का मूलोच्छेद कहीं भी उपलब्ध नहीं होता। अतः वह अनादि है और इसीसे वेद अपौरुषेय हैं।

वेद-भिन्न अन्यान्य ग्रन्थों की कर्तृ-स्मृतिधारा यह सूचित करती है कि अमुक ग्रन्थ या उपदेश अमुक का है। ग्रन्थ-कर्ता का नाम-निर्देश ग्रन्थ-कर्ताओं की स्मरण-परम्परा का सूचक है। "हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्" इत्यादि श्रुतियों से वेदों की पौरुषेयता सिद्ध नहीं होती। वेदशब्दों से ही विश्व की सृष्टि होती है। अतः पदार्थसृष्टि के पहले भी वैदिक

शब्दों का होना सुतरां सिद्ध होता है। अतीत, अनागत आदि भावों के बोधक पद या लकार आदि सभी आपेक्षिक नहीं है। इस विषय का अन्यत्र विवेचन किया गया है। "अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितम्" इत्यादि श्रुति से पीछे विशेष रूप से वेदों की अपौरुषेयता सिद्ध की जा चुकी है।

कहा जाता है कि 'मीमांसक विधि-वाक्यों से भिन्न वेद-भाग का प्रामाण्य नहीं मानते, अतः अर्थवादवाक्यों द्वारा वेद की नित्यता, अपौरुषेयता नहीं सिद्ध हो सकती।' परन्तु यह असंगत है। अर्थ-वाद-प्रामाण्य प्रकरण में वेद के सभी अंशों का प्रामाण्य कहा गया है। वेद में मात्रा-मात्रा की भी अनर्थकता अमान्य है। "वाचा विरूपनित्यया" इस मंत्रवर्णसे स्पष्ट ही वेद की नित्यता और अपौरुषेयता कही गयी है, परन्तु अन्य किसी ग्रन्थमें उसकी नित्यता या अपौरुषेयता नहीं कही गयी है। इस तरह वेदों की अपौरुषेयता स्पष्ट है। दूसरे कोई ग्रन्थ वेद-तुल्य नहीं हैं।

कभी-कभी जो यह कहा जाता है कि 'अन्य पौरुषेय ग्रन्थों में भी ऐसे-ऐसे विषय कहे गये हैं, जो कि शब्द से अन्य किसी स्वतंत्र प्रमाण से ज्ञात नहीं हो सकते। फिर वेद ही ऐसे अर्थ का बोधक होने के कारण क्यों अपौरुषेय कहा जाय?' लेकिन यह तर्क अतिप्रसक्त है। प्रमाणान्तर से अज्ञात अर्थ का प्रतिपादक होने से यदि कोई ग्रन्थ अपौरुषेय हो जाय, तो सभी पौरुषेय ग्रन्थ अपौ-रुषेय हो जायँगे। अतः यह कथन संगत नहीं है। कारण यह है कि इस प्रकार के पौरुषेय ग्रन्थ मनुस्मृति आदि वैदिक ग्रन्थ तो वेद-मूलक ही हैं। अतः वे प्रमाणान्तरागम्य वस्तुके स्वतंत्र बोधक नहीं है। धम्मपद, त्रिपिटक, बाइबिल, कुरान आदि ग्रन्थों का तो प्रमाणान्तरागोचर अतीन्द्रिय अर्थ का बोध कराना असंभव ही है, क्योंकि उनके कर्ताओं के अतीन्द्रियदर्शी होने में कोई प्रमाण

नहीं है। इसलिए उनका अदृष्ट एवं अपूर्व प्रमाणान्तरागम्य पदार्थ के संबंध में कुछ कहना संगत नहीं है। जैसे हम लोगों को अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान नहीं हो सकता, वैसे ही बुद्ध, ईसा, मुहम्मद आदि को भी अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान नहीं हो सकता। यदि यह कहा जाय कि 'इन लोगों को तप आदि विशेष धर्मानुष्ठान से सर्वज्ञता प्राप्त हुई है, अतः हम लोगों की अपेक्षा उनकी देह, उनकी बुद्धि विशिष्ट है और वे अतीन्द्रिय अर्थ का साक्षात्कार करने में क्षम हैं।' पर यह तर्क भी निस्सार ही है। बात यह है कि उन लोगों ने यह कैसे जाना कि सर्वज्ञता या विशिष्ट बुद्धि का मूल तप है? सर्वज्ञता तो तप करने के बाद पैदा हुई, अतः वह बाद की चीज हुई। सर्वज्ञता के पैदा होने से पहले उन्हें यह मालूम कैसे हुआ कि तप से सर्वज्ञता पैदा होती है? उत्तर में यह कहना कि वेदादि शास्त्रों से यह सब ज्ञात हुआ, तो यह ठीक नहीं; क्योंकि यदि उनकी सर्वज्ञता से वेदादि विरुद्ध का बोध हो, तब तो उपजीव्य-विरोध ध्रुव होगा। अन्य कोई सर्वज्ञता का साधन है ही नहीं।

यदि यह कहा जाय कि ईश्वर ने ही उन्हें सर्वज्ञता दी, तो प्रश्न होगा कि ईश्वर ने उन्हें ही सर्वज्ञता क्यों दी? यदि ऐसा किया तो क्या उनमें वैषम्य, नैर्घृण्य आदि दोष नहीं हैं? यदि इस सर्वज्ञता-दान के मूल में 'कर्म' मानें तो प्रश्न खड़ा होता है कि वे कर्म कौन से हैं? उनका किससे ज्ञान होता है? बुद्ध, ईसा एवं मुहम्मद आदि के ज्ञान तो डेढ़ दो हजार वर्षों के हैं। उनके पहले कौन कर्म थे और उनका ज्ञान किन साधनों से होता था? फलतः कहना होगा कि अनादि अपौरुषेय वेदों से ही धर्मा-धर्म-रूपी कर्मों का बोध होता है। वेद-विरुद्ध कोई भी पौरुषेय वचन अतीन्द्रिय अर्थ में प्रमाण नहीं होता।

आजकल कुछ लोग अपने ग्रन्थों को भी वेद-तुल्य अपौरुषेय कहने का प्रयत्न करते हैं। परन्तु उन-उन ग्रन्थों के कर्ता प्रसिद्ध हैं, उनका निर्माणकाल प्रसिद्ध है, उनके जन्म से पूर्व उनकी परम्परा का विच्छेद निश्चित है। फिर तो उन ग्रन्थों की अपौरुषेयता का कथन केवल वैदिकों की युक्तियों का अनुकरण या अंधानुकरण-मात्र है।

कोई यह भी कहते हैं कि 'कठ आदि की तरह बुद्ध, ईसा आदि ठीक उसी प्रकार संप्रदाय के प्रवर्त्तकमात्र हैं, जिस प्रकार वैदिक मंत्रों के ऋषि मंत्र-द्रष्टा होते हैं, मन्त्रनिर्माता नहीं। जैसे ईश्वर ने ब्रह्मा के हृदय में वेद प्रकट किया, वैसे ही ईश्वर ने बुद्ध, ईसा आदि के हृदयों में तत्तद्ग्रन्थों को प्रकट किया है।' परन्तु वस्तुतः ये सब बातें की मौलिक नहीं हैं, किंतु वैदिक युक्तियों का अपहरणमात्र है। बुद्ध तो ईश्वर ही नहीं मानते थे, फिर उन्हें ईश्वर द्वारा उपदेश कैसे मिलता? बौद्ध-मत में सभी वस्तुएँ क्षणिक हैं। फिर नित्य वेद के समान उनके ग्रन्थों की नित्यता कैसे हो सकती है? बौद्ध प्रमाणों का प्रामाण्य स्वतः न मानकर परतः मानते हैं। फिर विना वक्तृ-गुण के अपौरुषेय होने से किसी ग्रन्थ का प्रामाण्य भी कैसे हो सकता है? प्रसिद्ध है कि बुद्ध का उपदेश बुद्धके शब्दों के रूप में आज अप्राप्त ही है। उनके उपदेशों के सार का महत्त्व है, शब्दों का महत्त्व नहीं। यही कारण था कि उन्होंने अपनी-अपनी भाषाओं में अपने उपदेश के प्रचार की छूट दे रखी थी। इसीलिए पाली, तिब्बती, चीनी आदि भाषाओं में

उनके अधिकांश उपदेश मिलते हैं। यही स्थिति बाइबिल, कुरान आदि की भी है। उन ग्रन्थों के कर्ता और काल का दृढ़ निर्णय है।

इसी प्रकार अनुमान, शब्द कुछ भी न माननेवाले केवलप्रत्यक्ष-वादी चार्वाक के भी आक्षेप निराधार है। यदि अनुमान और शब्द का प्रामाण्य न माना जाय, तो "प्रत्यक्ष ही प्रमाण है, अनुमान आदि नहीं" चार्वाक का यह वचन-प्रयोग भी निरर्थक ही होगा। कारण जब शब्दमात्र अप्रमाण है, तो यह वचन भी अप्रमाण है। इसके अतिरिक्त वह अज्ञानी, संशयालु या विप्रित-पन्न के प्रति उक्त वचन का प्रयोग करता है या सब किसीके प्रति ? यदि सबके प्रति, तब तो अजिज्ञासित अर्थका प्रतिपादन करने के कारण उसका कथन उन्मत्तालाप के सिवा कुछ भी नहीं है। यदि संशयालु आदि के प्रति, तो यह बतलाना चाहिए कि उसे दूसरे के संशय, अज्ञान एवं विप्रतिपत्ति का ज्ञान कैसे हुआ ? यदि कहें कि 'उसके कहने से', तो शब्दप्रमाण की मान्यता हो ही गयी। यदि आवृत्ति और वचन-भङ्गी से, तब भी अनुमान प्रमाण मानना पड़ा। कोई भी प्राणी किस गोत्र का, किसका पुत्र है, इसका ज्ञान दाय-भाग आदि लौकिक व्यवहार के लिए अपेक्षित है। यह ज्ञान माता-पिता आदि के वचनों से ही होता है। मनुष्य की कौन कहे, पशु और कुत्तों की भी अनुमान और शब्द से प्रवृत्ति होती है। पुचकारने, कोसने एवं अनुकूल तथा प्रतिकूल शब्दों के प्रयोग से उनकी भी प्रवृत्ति एवं निवृत्ति होती है। अतः जहाँ दूषण की संभावना है, उन पौरुषेय शब्दों का भी जब प्रामाण्य है, तब

अपौरुषेय वैदिक शब्दों के प्रामाण्य में संदेह ही नहीं हो सकता।

अतएव चार्वाकों का यह कहना सर्वथा प्रलाप है कि 'यदि यहाँ का दिया हुआ हव्य-कव्य देशान्तरस्थ देवों और पितरों को मिलता है, ब्राह्मण-भोजन से उनकी तृप्ति होती है, तो विदेशी कुटुम्बी को भी मिल जाना चाहिए और यहींके ब्राह्मण के भोजन से उथकी भी तृप्ति हो जानी चाहिए। यह यदि नहीं होता तो, यह सारा वैदिक कथन भी झूठा है।' वेदों ने जिस प्रकार जो साध्य-साधनभाव बना रखा है, वे उसी अंश में जिम्मेवार हैं। दृष्टान्त मात्र से वस्तु के स्वभाव मिटाये नहीं जा सकते। यह नहीं कहा जा सकता कि यदि जल गरम नहीं, तो अग्नि क्यों गर्म है? इसके सिवा जो काम लौकिक उपायों से ही सम्पन्न हो सकते हैं, उनके लिए वेदों में क्यों उपदेश होता? वेद तो लोक से, प्रमाणान्तर से असिद्ध बातको ही बतलाते हैं। अज्ञात अर्थ का ज्ञापक होने के कारण ही वेद का प्रामाण्य है। इसीलिए चार्वाकों का यह कहना भी अप्रमाण है कि भाण्ड, धूर्त, निशाचरों ने वेदों को बनाया है। 'लाखों वर्ष से प्रचलित 'वेद को किन धूर्तों और किन निशाचरों ने क्यों बनाया?' यह पूछने पर प्रत्यक्षमात्रवादी चार्वाक को मूक ही हो जाना पड़ता है।

मंत्रद्रष्टाओं के मंत्र-दर्शन अन्य-परम्परा में प्रचलित होने से संवादी होने के कारण विश्वसनीय हैं। जिनका अविच्छिन्न पारम्पर्य नहीं है, उनके ग्रन्थ-दर्शन को प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता। ब्रह्मा तो सृष्टि के आदि में हुए थे। सृष्टि के प्राणियों के कल्या-

णार्थ उनके हृदय में वेद का प्रकाश उचित था। परन्तु बुद्ध, ईसा आदि तो सृष्टि के करोड़ों वर्ष बाद अभी-अभी दो, तीन हजार वर्ष के भीतर के हैं। यदि इनके द्वारा विश्वकल्याण के लिए ईश्वर को धर्मोपदेश कराना होता, तो इन्हें वे सृष्टि के आदि में ही उत्पन्न करते। क्या ईश्वर को तीन हजार वर्ष पहले के प्राणियों से कोई द्वेष था, जो उन लोगों के कल्याण का मार्ग नहीं बतलाया ? फिर यदि ब्रह्मा को ईश्वर द्वारा दिया गया उपदेश मान्य है ही, तब फिर ईश्वर बुद्ध आदि को उससे भिन्न और विरोधी उपदेश क्यों देता ? यदि वह मान्य नहीं है, तो वह उदाहरण भी कैसे हो सकता है ? आधुनिक इतिहास की दृष्टि से भी वेद बुद्ध, ईसा आदि से हज़ारों वर्ष पुराने हैं। उनके आधार पर यह सिद्ध है कि ईश्वर ने ब्रह्मा को वेद का प्रदान किया। ऐसी स्थिति में दूसरा जो भी कोई कहता है, वह उसीका अनुकरण करता है। जो एक ढंग की बात विभिन्न ढङ्गों के अनेक ग्रन्थों में मिलती है, उनमें सर्वप्राचीन ग्रन्थ ही उस बात का मूल माना जाता है। अन्य लोगों ने उसी ग्रन्थ के आधार पर ही कहा है, यही मानना पड़ता है। जैसे न्यूटन आदि ही गुरुत्वाकर्षण-सिद्धान्त के मूल आविर्भावक समझे जाते हैं। वह बात भले ही हजारों वैज्ञानिक विभिन्न ढंग से कहें, परन्तु वे उस सिद्धान्त के आविष्कारक नहीं माने जाते। इसके अतिरिक्त बुद्ध, ईसा आदि के प्रामाणिक मूलग्रन्थों में कहीं ऐसा उल्लेख भी नहीं है कि अमुक वाक्यसमूह ईश्वर ने उनको दिया है। भले ही यह उल्लेख हो कि यह सिद्धान्त ईश्वरसंगत

है, इससे ईश्वर-प्रसन्न होते हैं, परन्तु इन्हीं वाक्यों के रूप में उन्हें ईश्वर ने दिया है, यह कहीं नहीं मिलेगा। अतः यह सारा प्रयास अपने ग्रन्थों को वेद-तुल्य बतलाने के लिए ही है। परन्तु यदि वेद हैही, तो वेद के समान एवं वेद-विरुद्ध अन्य उपदेश-ग्रन्थों की निरर्थकता सुतरां सिद्ध हो जाती है। आश्चर्य की बात कि जिस भाषा में वे ग्रंथ हैं, वे भाषाएँ ही अनादि नहीं हैं। अधिक से अधिक दो-तीन हजार वर्ष पुरानी हैं। फिर उन भाषाओं के ग्रन्थ अनादि कैसे हो सकते हैं?

कन्या के पिता ने किसी विवाहार्थी वर से पूछा—'तुम्हारा कौन गोत्र है?' परन्तु वर को कुछ मालूम न था। अतएव उसने कह दिया—'जो तुम्हारा गोत्र है, वही मेरा भी है।' बेचारा यह भी नहीं जानता था कि समान गोत्र में विवाह नहीं होता। अतः इस उत्तर से भी उसके मनोरथ की पूर्ति नहीं हो सकती। इसी तरह विभिन्न प्रतिवादी जब अपने ग्रंथों का प्रामाण्य नहीं सिद्ध कर पाते हैं और न वेदों की अपौरुषेयता और प्रामाण्य का खण्डन ही कर पाते हैं, तब कहने लगते हैं कि 'जैसे वेद अपौरुषेय हैं, वैसे ही हमारे ग्रन्थ भी अपौरुषेय हैं। जैसे वेदों का प्रदान ब्रह्मा को ईश्वर ने किया है, वैसे ही अमुक ग्रंथ का प्रदान हमारे अमुक पैगम्बर को ईश्वर ने किया है।' परन्तु उन्हें नहीं मालूम कि पूर्वोक्त युक्तियों के अनुसार इस उत्तर से भी उनका मनोरथ पूरा नहीं हो सकता। अतः जैसे नेत्र के द्वारा ही रूप का बोध होता है, वैसे ही अपौरुषेय वेद के द्वारा ही अती-

न्द्रिय अर्थ का बोध होता है, किसी पुरुष या पौरुषेय ग्रन्थ से नहीं।

अप्रामाण्य के दो ही कारण हो सकते हैं—एक कारण दोष, और दूसरा अर्थबाध। (प्रमाणसामान्यात्) शब्द के अप्रामाण्य के भी ये ही दो कारण हैं या हो सकते हैं। परन्तु वेद नित्य एवं अपौरुषेय हैं। अतः निराश्रय होने से उनमें कारण-दोष भ्रम, प्रमाद आदि की शङ्का को अवकाश ही नहीं है। अर्थ-बाधरूप अप्रामाण्य-कारण भी वेद में सम्भव नहीं। कारण "स्वर्गकामो यजेत" (स्वर्ग की कामना से यज्ञ करे) इत्यादि वाक्यों द्वारा प्रमाणान्तर से अज्ञात स्वर्ग एवं उसका याग के साथ साध्य-साधनभाव बोधित होता है। जब याग, स्वर्ग आदि वेदातिरिक्त प्रमाणों से ज्ञात नहीं होता, तो उनका अभाव भी वेदातिरिक्त प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से खंडित कैसे हो सकेगा? अतः अर्थबाध भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जिस प्रमाण से भाव विदित होता है, उसीसे उसका अभाव भी खंडित हो सकता है—यही अभाव बोध अर्थबाध है।

फिर भी कहा जाता है कि 'जलवृष्टि, पशु-प्राप्ति, शत्रु-वध आदि दृष्टफलों के लिए कारीरी, चित्रा, श्येन आदि यागों का भी वेदों में विधान है। "कारीर्या यजेत वृष्टिकामः", चित्रया यजेत पशुकामः "शत्रुमरणकामः श्येनेनाभिचरन् यजेत।" परन्तु कईबार उक्त यज्ञों के करने पर भी वृष्टि आदि फल नहीं होते'। इस तरह अर्थ-बाध की आशङ्का हो सकती है। इसी तरह 'उदिते जुहोति', 'अनुदिते

जुहोति', समयाध्युषिते जुहोति' अर्थात् सूर्यमण्डल की रेखा उदित होने पर होम करे, अनुदित अर्थात् रात्रि के अन्तिम सोलहवें भाग में कुछ तारों के रहते ही होम करे, समयाध्युषित अर्थात् तारों के लुप्त होने और सूर्यमण्डलके निकलनेसे पूर्व होम करे—ये तीन प्रकार के विधान हैं और तीनों ही पक्षोंकी निन्दा भी है। 'श्यावोऽस्याहुतिमभ्यवहरति य उदिते जुहोति' शबलोऽस्याहुतिमभ्यवहरति योऽनुदिते जुहोति'' श्यावशबलावस्याहुतिमभ्यवहरतो यः समयाध्युषिते जुहोति'' अर्थात् जो होम उदित में करता है, उसकी आहुति को श्याव; जो अनुदित में होम करता है, उसकी आहुति को शब-ल और जो समयाध्युषित में होम करता है, उसकी आहुति को श्यावशबल (यमराज के श्वान) भक्षण कर जाते हैं। यहाँ अग्निहोत्र का विधान भी है और निन्दा भी है। इन वाक्यों का परस्पर विरोध होने से सभीका अर्थबाधरूप अप्रामाण्य हो जायगा। जैसे वेणु-संघर्ष से उत्पन्न अग्नि वेणु का दहन कर देता है, वैसे ही परस्पर विरोध से उक्त वाक्यों का अप्रामाण्य हो जायगा। "उदिते जुहोति" आदि वाक्यों से होम में इष्ट की साधनता बोधित होती है।" "श्यावोऽस्य" इत्यादि निन्दावाक्यों से उक्त होमों में अनिष्टसाधनता अनुमित हो सकती है। इसी प्रकार 'त्रिः प्रथमामन्वाह त्रिरुत्तमाम्' तीन बार पहली एवं तीन बार अन्तिम सामिधेनी ऋचा का पाठ करना चाहिए। यहाँ पर पुनरुक्तता एवं व्यर्थता दोष भी वेदों में आता है। इससे उन्मत्त-वाक्यवत् वेद का अप्रामाण्य होगा। उपर्युक्त वाक्यों का अप्रामाण्य

होने से तत्सामान्यात् 'स्वर्गकामो' यजेत इत्यादि अदृष्टार्थक वाक्यों का भी अप्रामाण्य कहा जा सकेगा।"

यही बात न्यायदर्शन में गौतम ने कही है—"तदप्रामाण्यमनृतव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्यः।" अर्थात् अदृष्टार्थबोधक वेदों का अप्रामाण्य है; क्योंकि उनमें अनृत, व्याघात, पुनरुक्त आदि दोष हैं। पुनश्च उसका समाधान भी उक्त गौतम महर्षि ने ही—"न कर्मकर्तृवैगुण्यात्, अभ्युपेत्य कालभेदे दोषवचनात्, अनुवादोपपत्तेश्च" इन सूत्रों से किया है। अर्थात् वेदों का अप्रामाण्य नहीं कहा जा सकता। जब मन्त्र एवं आयुर्वेद के तुल्य वेदों का प्रामाण्य सिद्ध है, तो पूर्वोक्त कारणों से वेदों का अप्रामाण्य नहीं कहा जा सकता। कारीरी आदि यागों के करने पर भी कर्म, कर्ता एवं साधनों में वैगुण्य (दोष) होने से फल का अनुत्पन्न होना बन सकता है। यथाविधि कर्मों को न करना कर्म-वैगुण्य है। मूर्खता आदि कर्ता आदि का वैगुण्य है। हवि आदि का वैगुण्य साधनवैगुण्य है। वायुयान आदि यन्त्रों या घटादि के निर्माण के जैसे कर्ता, कर्म साधनादि कहे गये हैं, वैसे न होने पर यन्त्र आदि नहीं बनते। एतावता यह नहीं कहा जा सकता कि 'योग्य कर्तृ-कर्म आदि होने पर भी वायुयान आदि नहीं बनेंगे। किसी सुप्त या मूर्च्छित कुम्भकार के घटनिर्माता न होने से यह नहीं कहा जा सकता कि कुम्भकार घटनिर्माता नहीं होता। इसी तरह कर्तृ-कर्मवैगुण्ययुक्त कारीरी आदि से वृष्टि आदि फल न होने पर भी वैगुण्यरहित कर्ता आदि से वृष्टि आदि फल होते ही हैं।

इसी तरह दूसरी बात का समाधान यह है कि निन्दा-वाक्यों का तात्पर्य होम की निन्दा या अनिष्ट-साधनता-बोधन में नहीं है, किन्तु उसका तात्पर्य यही है कि जिसने आधान के सङ्कल्प में उदित या अनुदित जो भी पक्ष ले लिया हो, उसी-का पालन करना चाहिए। अर्थात् सङ्कल्पित या स्वीकृत पक्ष में निष्ठा स्थिर करने के लिए ही इतर पक्ष की निन्दा है। "नहि निन्दा निन्द्यं निन्दितुं प्रवर्तते, अपितु विधेयं स्तोतुम्"—अर्थात् निन्दा का तात्पर्य निन्द्य की निन्दा में नहीं, किन्तु विधेय की स्तुति में ही होता है। अतएव अनिष्टसाधनता का बोधन कराना या निषेध करना आदि निन्दा का अभिप्राय न होकर विधेय की स्तुति ही निन्दा का लक्ष्य होता है। जिसने अग्न्याधानकाल में 'उदिते हवनीयाधानं करिष्ये' अर्थात् उदित में होम के लिए मैं अग्न्याधान करता हूँ, इस प्रकार का सङ्कल्प कर लिया, उसे उदित में ही होम करना चाहिए। यदि कदाचित् उसने अपने सङ्कल्प के विपरीत कभी अनुदित में होम किया, तो उसकी आहुति को शबल (यम-श्वान) भक्षण करता है, क्योंकि उसने प्रतिज्ञात काल-नियम का उल्लङ्घन करने का अपराध किया है। इसी तरह अनुदित आदि सङ्कल्प में भी समझना चाहिए।

इसी प्रकार पुनरुक्तिदूषण भी अकिञ्चित्कर ही है, जहाँ निष्प्रयोजन पुनरुक्ति होती है, वही वह दूषक होती है। सप्रयोजन पुनरुक्ति तो भूषण ही होती है। यहाँ प्रथमा और अन्तिमा ऋचा को तीन बार पढ़कर, ११ सामिधेनी ऋचाओं को १५ बनाना ही अभीष्ट है, क्योंकि यही वेद में कहा गया है—"इममहं भ्रातृव्यं पञ्चदशावरेण वाग्वज्रेण च बाधे योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः।" अर्थात् 'मैं अपने शत्रु को सामिधेनी नामक

१५ ऋचारूपी वाग्वज्र से मारता हूँ'। यहाँ सामिधेनी को १५ कहा गया है, पर सामिधेनी हैं ११ ऋचाएँ ही। अतः प्रथम और अन्तिम का तीन-तीन बार उच्चारणकर ११ सामिधेनियों में ही पञ्चदश सङ्ख्या बनाने के लिए यहाँ की पुनरुक्ति सार्थक है।

नैयायिकों के मतानुसार भगवान् वेदकार ईश्वर हैं। वे सर्वज्ञ हैं। उन्हें त्याज्य, ग्राह्य आदि समस्त पदार्थों का पूर्ण रूप में प्रत्यक्ष है। भूतानुकम्पा, यथार्थ ज्ञान कराने की इच्छा उनमें स्वाभाविक है। करणापाटव भी उनमें अत्यन्त अशङ्कनीय है। अतः वे अनाप्त-पुरुषों से सर्वथा विलक्षण और परम आप्त हैं। फिर उनसे विरचित वेदों का प्रामाण्य स्पष्ट है। अभिप्राय यह कि संसार में अनन्त सुख-दुःख-विशेषवाले प्राणी दृष्टिगोचर होते हैं। उनकी यह विचित्रता स्वाभाविक नहीं कही जा सकती। साथ ही दृष्ट कारणमात्र से भी विचित्रता का समाधान नहीं हो पाता। एक सम्राट् के चार पुत्र होते हैं। समान उपचार और लालन-पालन तथा शिक्षण होने पर भी कोई हृष्ट-पुष्ट, प्रसन्न एवं दिव्यप्रतिभा-सम्पन्न होता है, तो कोई अनेक रोग-दोष-परिप्लुत होता है। इसके अतिरिक्त कोई पुरुषार्थ योग्य होता है, तो कोई इसके अयोग्य होता है। कोई अन्ध-बधिर, उन्मत्त तथा श्वान एवं शूकर बनता है, तो कोई इन्द्रिय और प्रतिभा से सम्पन्न होता है। इसलिए किसी अदृष्ट हेतु से ही विश्व-वैचित्र्य की व्यवस्था माननी पड़ेगी।

वह अदृष्ट ही अपूर्व या धर्माधर्म कहा जाता है। वह यद्यपि सबको को प्रत्यक्ष नहीं, तथापि किसी पुरुषविशेष को अवश्य ही प्रत्यक्ष है। शरीर और भुवनादि कार्य में ही उनके

कर्ताकी निर्माण-सामर्थ्य और समस्त वस्तुतत्त्वज्ञता निहित हो जाती है। वह क्लेश, कर्म, विपाक एवं आशय से असंस्पृष्ट एवं परम कारुणिक है। वे ही भगवान् जब देखते हैं कि प्राणी हित और अहित की प्राप्ति और परिहार के उपाय से अनभिज्ञ होकर अनेकविध दुःख-दावाग्नि से दन्दह्यमान हो रहे हैं, तब वे भी सन्तप्त हो उठते हैं। ऐसी स्थिति में हित एवं अहित की प्राप्ति एवं परिहार को जानकर भी उपदेश न करना या अन्यथा उपदेश करना उनके लिए असम्भव है। अतः परम कारुणिक भगवान् प्रपञ्च रचकर प्रजाओं के लिए हित एवं अहित की प्राप्ति तथा परिहार के लिए उपाय बतलाते हैं। पितृकल्प भगवान् के उपदेशों का चारों वर्णों एवं चारों आश्रमों को आदर और धारण भी करना चाहिए। जो वर्णाश्रमाचार का व्यवस्थापक महाजन परिगृहीत आगम है, वही परमेश्वर द्वारा निर्मित है। आप्तोक्त होने से वह मन्त्रायुर्वेद के समान प्रमाण है। कौन है वह आप्तोक्त आगम ? क्या शाक्य, भिक्षुक, दिगम्बर का संसार-मोचक आगम अथवा वेद ? शाक्य आदि आगमों के बुद्ध, ऋषभ आदि प्रणेता हैं, यह स्फुटतर ही स्मरण है, ईश्वर उनका कर्ता नहीं। बुद्ध, ऋषभ आदि तनु, भुवन आदि के कर्ता नहीं हैं, जिससे कि 'वे सर्वज्ञ हैं' ऐसा निश्चय किया जाय। सर्वज्ञता के उपायानुष्ठान से उनकी सर्वज्ञता की सम्भावना की जा सकती है। यह बात उन भिन्न-भिन्न मतानुयायियों को सम्मत है। सम्भावना-मात्र से बुद्धादि-प्रणीत आगमों में बुद्धिमानों को विश्वास नहीं हो सकता। दूसरे इन आगमों में वर्णाश्रमाचार की व्यवस्था भी परिलक्षित नहीं होती। निषेक से लेकर श्मशान तक की समस्त क्रियाओं का भी इनमें विधान नहीं है। बौद्धादि-आगमों को प्रमाण माननेवाले भी श्रुति, स्मृति, इतिहास एवं पुराण-निरपेक्ष

आगममात्र में प्रवृत्त नहीं होते, प्रत्युत मायिक व्यवहार करते हुए भी श्रुत्यादि में कथित वर्णाश्रम के आचारों को किसी न किसी रूप में मानते ही हैं। अतः जगन्निर्माता ईश्वर ही वेदों का कर्ता है।

उक्त स्थापना में यदि स्मृति आदि प्रमाण न भी हों, तो भी वेद ही परमेश्वर-निर्मित ठहरते हैं। 'स्वर्गकामश्चैत्यं वन्देत' इत्यादि वाक्य की तरह 'वेद अन्यकर्तृक हैं' इसमें कोई प्रमाण नहीं। वेद को छोड़कर दूसरा कोई भी आगम ऐसा नहीं है, जो लोक-यात्रा को चलाता हुआ वशिष्ठ, मन्वादि महाजनों से परिगृहीत ईश्वर-निर्मित रूप से स्मर्यमाण हो। ईश्वर सर्वज्ञ है, वह बिना उपदेश किये नहीं रह सकता। अतः सकल लोकयात्रा का संचालन करनेवाले, हिताहितप्राप्ति-परिहार का उपाय बतलानेवाले वेद ही ईश्वर-प्रणीत हैं—ऐसा निश्चय होता है। इसीलिए त्रैवर्णिक लोग आजतक बड़े प्रयत्न से वेदों का ग्रहण और धारण करते हैं। उसके अर्थ-पालन के लिए महर्षि-परम्पराओं ने अङ्ग, उपाङ्ग, इतिहास, पुराण तथा धर्मशास्त्रों का निर्माण किया है। बुद्धादि-वाक्यों से न तो लोकयात्रा चल सकती है और न परलोक-यात्रा ही। लौकिकों का उनके विषय में ऐकमत्य भी नहीं है। मायिक कहकर भी तदर्थानुष्ठान में प्रवृत्ति नहीं होती। इस तरह परस्पर विगान (मतभेद) से किन्हीं ही म्लेच्छादिकों से परिगृहीत होने के कारण उन आगमों को आप्तप्रोक्त नहीं कहा जा सकता। मन्वादिवाक्य जैसे वेदमूलक होने से प्रमाण समझे जाते हैं, वैसे ही बुद्धादि-आगमों का प्रामाण्य नहीं कहा जा सकता। क्योंकि मन्वादि वेद एवं तदर्थ के ज्ञाता और अनुष्ठाता थे। अतः उनके वाक्यों में वेदमूलकत्व का अनुमान किया

जा सकता है। इतर आगमों के कर्ता वेदविरोधी थे। फिर उनके वाक्यों का वेदमूलकत्व कैसे समझा जाय? उन लोगों की सर्वज्ञता सन्दिग्ध होने से उनके आगमों को अनुभव-मूलक भी नहीं कहा जा सकता। मन्त्र एवं आयुर्वेद में प्रवृत्ति की सफलता से अर्थात् प्रत्यक्षफलोपलम्भ से उनका प्रामाण्य निश्चित हो जाता है। उनमें भी वैदिक, शान्तिक, पौष्टिक आदि कर्मों की अभ्यनुज्ञा, रसायनादि क्रियाओं के आरम्भमें वेदविहित चान्द्रायणादि प्रायश्चित्त का उपदेश होने से आप्तप्रणीत आयुर्वेद से भी वेदों का प्रामाण्य निश्चित होता है। 'कारीरी' आदि यज्ञों की प्रत्यक्ष सफलता से भी स्थाली-पुलाक-न्याय से वेदों का प्रामाण्य निश्चित होता है। यह नहीं कहा जा सकता कि मन्त्र और आयुर्वेद का फल प्रत्यक्ष दृष्ट है, अतएव अन्वय-व्यतिरेकादि युक्तियों से ही उनका कार्य-कारणभाव नहीं जाना जा सकता। क्योंकि अपरिगणित औषधियों और उनके अपरिगणित संयोगों से उद्भूत एवं अभिभूत होनेवाले अपरिगणित गुणों एवं दोषों का ज्ञान असर्वज्ञ को सहस्रों जन्मों में भी नहीं हो सकता। ऐसे ही इनका प्रथम अन्वय-व्यतिरेक भी दुर्ज्ञेय है। यही स्थिति मन्त्रों की है। भिन्न-भिन्न अक्षरों के आवाप-उद्वाप भेद और उनकी शक्तियाँ भी दुर्ज्ञेय हैं।

इस तरह नैयायिकों की दृष्टि से भी वेदार्थबाध आदि वेदों पर किये गये आक्षेपों का निराकरण और वेदों का प्रामाण्य सिद्ध किया जाता है। इस तरह नैयायिक आदिकों की दृष्टि से परमाप्त सर्वज्ञ-शिरोमणि परमेश्वरप्रोक्त होने से वेदों का प्रामाण्य है।

कुछ लोग कहते हैं कि 'दृष्टान्त में जिन हेतु-साध्यों की व्याप्ति गृहीत होती है, पक्ष में भी उसी प्रकार का साध्य सिद्ध

होता है। उक्त अनुमान के घर, शय्या, प्रासाद आदि दृष्टान्त-स्थलों में कुलालादि कर्ता अल्पज्ञ ही होते हैं, सर्वज्ञ नहीं। फिर तनु, भुवनादि के कर्ता में सर्वज्ञता किस प्रकार सिद्ध होगी? कार्यत्वरूप हेतु से सर्वज्ञता के साथ कहीं पर व्याप्तिग्रह नहीं है। अतः सर्वज्ञता का अनुमान नहीं हो सकता। परन्तु उनका यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि पक्षधर्मता के बल पर अनुमान सामान्य की सिद्धि द्वारा विशेष का भी साधक होता ही है। जैसे शब्दादि की उपलब्धिरूप की क्रिया के द्वारा करण-सामान्य सिद्धि से श्रोत्रादि इन्द्रियों की सिद्धि होती है। यद्यपि किसी दृष्टान्त में श्रोत्रादि इन्द्रियों के साथ क्रिया की व्याप्ति गृहीत नहीं है, तथापि छिदादि क्रियाओं में क्रिया-सामान्य के साथ करण-सामान्य का व्याप्तिग्रह है ही। अतः उस अनुमान का पर्यवसान श्रोत्रादि इन्द्रियरूप विशेष करण में ही होता है। इसी तरह घटादि कार्यों में बुद्धिमत्पूर्वकत्व सामान्य के साथ ही कार्यत्व या उत्पत्तिमत्त्व हेतु का व्याप्तिग्रह है, तथापि सम्पूर्ण विश्वरूप कार्य का कर्ता यदि सम्पूर्ण विश्व का जानकार है, तो सुतरां उसकी सर्वज्ञता सिद्ध होती है। घटादि एक-एक कार्य के निर्माता घटादि एवं उनके उपादानादि को जानते ही हैं। इसी तरह परमेश्वर सम्पूर्ण विश्व का कर्ता है, तो वह सुतरां सम्पूर्ण विश्व, उसके उपादान, निमित्त आदि सबका ज्ञाता होने से सर्वज्ञ ही होगा। नास्तिक वृक्षादि को स्वतः उत्पन्न कहता है, परन्तु उसके मत में वादि-प्रतिवादिसम्मत कोई दृष्टान्त नहीं है।

आस्तिक के पक्ष में बुद्धियुक्त कुलालादि से घटादि कार्य उत्पन्न होते हैं, पर दृष्टान्त आस्तिक-नास्तिक उभयसम्मत है। अतः सर्वज्ञ चेतन से ही विश्व की उत्पत्ति मानना सर्वथा बुद्धिसङ्गत है। कुछ लोगों का कहना है कि 'इन्द्रियों की सिद्धि अनुमान

से नहीं होती, किन्तु शब्दादि की उपलब्धि श्रोत्रादि इन्द्रियरूप करण के बिना अनुपपन्न होकर अर्थापत्ति द्वारा श्रोत्रादि इन्द्रियों की कल्पना का हेतु बनती है। अर्थापत्ति में दृष्टान्त और व्याप्ति की अपेक्षा नहीं होती। अतः इन्द्रियानुमान के समान सर्वज्ञता का अनुमान नहीं हो सकता।' परन्तु ईश्वरवादी पक्ष के अनुसार कहा जा सकता है कि इसी तरह सर्वज्ञ के बिना विश्व की उत्पत्ति अनुपपन्न होकर अर्थापत्ति के द्वारा सर्वज्ञ ईश्वर की सिद्धि करा सकती है। कुछ लोग कहते हैं कि 'क्षेत्रज्ञ चेतन से अधिष्ठित अदृष्ट (शुभाशुभ कर्मजन्य अपूर्व) से ही विश्व की उत्पत्ति हो सकती है। अतः अनुपपत्ति न होने से अर्थापत्ति का उत्थान ही असम्भव है। फिर उसके द्वारा ईश्वर की सिद्धि असम्भव है।' परन्तु यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि अदृष्ट जड़ है, क्षेत्रज्ञ अल्पज्ञ है, अतः उन दोनों के ही द्वारा विश्व की उत्पत्ति उपपन्न नहीं हो सकती। यह सर्वमान्य है कि कोई व्यक्ति 'जानाति, इच्छति, अथ करोति' जानता है, इच्छा करता है फिर व्यापार द्वारा कार्य उत्पन्न करता है। जड़, अदृष्ट एवं अल्पज्ञ चेतन को विश्व का ज्ञान, भोक्ताओं का ज्ञान एवं प्राणियों के विभिन्न कर्मों का ज्ञान असम्भव ही है। अतः सर्वज्ञ चेतन से ही विश्व का निर्माण सम्भव है। जैसे लोक में सेवादि कर्मों का फल सेवादि कर्मों के ज्ञाता स्वामी से ही मिलता है, वैसे ही प्राणियों के शुभाशुभ कर्मों का फल भी सर्वज्ञ परमेश्वर से ही मिल सकता है। अतएव अनन्त ब्रह्माण्ड के अनन्त जीवों, उनके अनन्त जन्मों, तत्तत् जन्म के विभिन्न कर्मों एवं कर्मफलों को जाननेवाले तथा कर्मफलों को देने की क्षमता रखनेवाले सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् ईश्वर के बिना विश्वोत्पत्ति एवं कर्मफल-व्यवस्था कथमपि उपपन्न नहीं हो सकती। अतः अर्थापत्ति से भी ईश्वर की सिद्धि हो सकती है।

सर्वकार्य का कारण होने से ही ज्ञान के लिए ईश्वर को देह तथा अन्तःकरण आदि की अपेक्षा नहीं होती। यदि जन्य देह या अन्तःकरण की अपेक्षा से ईश्वर का ज्ञान उत्पन्न हो, तब तो ईश्वरीय ज्ञान के निमित्तभूत देह, अन्तःकरणादि के लिए भी कोई अन्य ज्ञान अपेक्षित होगा। फिर उसके लिए अन्य देहादि अपेक्षित होंगे। फिर तो अनवस्थाप्रसङ्ग अपरिहार्य ही हो जायगा। अतएव अन्यथानुपपत्ति से ईश्वर का ज्ञान देहादि-निरपेक्ष ही मान्य होता है। नैयायिक ईश्वर के ज्ञानादि को नित्य मानते हैं। वेदान्ती ईश्वरीय ज्ञान को ईश्वर का स्वरूप ही मानते हैं। 'यः सर्वज्ञः स सर्ववित्, यस्य ज्ञानमयं तपः' इत्यादि श्रुतियाँ ईश्वर की सर्वज्ञता का प्रतिपादन करती हैं।

मीमांसक इस पक्ष को इसलिए स्वीकार नहीं करते कि वेद अपौरुषेय होने से स्वतन्त्र प्रमाण है, परमेश्वर-प्रोक्त होने से नहीं। ऐसा न मानने पर ईश्वरसिद्धि में वेद प्रमाण उपस्थित करने में अन्योन्याश्रय दोष उपस्थित होता है। वेद-प्रामाण्य होने पर ही ईश्वरसिद्धि होगी तथा ईश्वरसिद्धि होने पर तत्प्रोक्त होने से वेद-प्रामाण्य सिद्ध होगा। यदि अन्योन्याश्रय दोष के वारणार्थ 'क्षित्यङ्कुरादिकं सकर्तृकं कार्यत्वाद् घटवत्' (पृथ्वी वृक्षादि सकर्तृक हैं, अर्थात् इनका कोई कर्ता है, क्योंकि सावयव होने से ये सब कार्य हैं। जैसे घटकार्य सकर्तृक है, उसका कुलाल कर्ता है, उसी तरह पृथ्वी, वृक्षादि का भी कोई कर्ता अवश्य है। पृथ्वी, वृक्षादि कार्य जीव के नहीं हो सकते। अतः सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् ईश्वर ही पृथिव्यादि का कर्ता मानना उचित है) इत्यादि अनुमानों के आधार पर ईश्वर-सिद्धि करें और अनुमानसिद्ध ईश्वर से प्रोक्त होने से वेदों का प्रामाण्य माना जाय, तो भी अड़चनें खड़ी होती हैं।

ईश्वर-सिद्धि की सारी अड़चनें दूर भी हो जायँ, सर्वज्ञता की विप्रतिपत्ति दूर भी हो जाय तो भी अनुमान द्वारा ईश्वर-सामान्य की ही सिद्धि हो सकती है। अनुमानसिद्ध ईश्वर वेदकार है, यह सिद्ध करना अनुमान के बूते के बाहर की बात है, क्योंकि वेदकार ईश्वर-सामान्य न होकर ईश्वरविशेष है; उसकी सिद्धि अनुमान से नहीं हो सकती। इसके अतिरिक्त जिन-जिन युक्तियों से नैयायिक वेदकार को ईश्वर सिद्ध करेगा, उन्हीं-उन्हीं युक्तियों से यदि विभिन्न मतानुयायी, अपने-अपने धर्मग्रन्थकारों को ईश्वर सिद्ध करने लगेंगे, तो नैयायिकों के पास कौन-सी विशिष्ट वाचो-युक्तियाँ हैं, जिनसे वेदकार ही ईश्वर सिद्ध हो, अन्य ग्रन्थकार ईश्वर न सिद्ध हों। सभी ईश्वर हों, तो उनके ग्रन्थों में परस्पर विरोध न होना चाहिए, अतः अपौरुषेय होने से ही वेदों का स्वतःप्रामाण्य मानना उचित है और वेदों के प्रमाण होने से ही धर्म, ब्रह्म दोनों की मान्यता निर्विघ्न सम्पन्न होती है। अतएव जैसे धर्म शास्त्रैक-गम्य है, वैसे ही ब्रह्म भी शास्त्रैकगम्य होता है। अनुमानादि युक्तिरूप से सम्भावनामात्र से श्रुत्यर्थ बुद्ध्यारोहणार्थ उपयुक्त होते हैं।

समस्त वेद का प्रामाण्य : ३ :

मनु ने 'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्' इत्यादि वचनों से 'मन्त्रब्राह्मण-योर्वेदनामधेयम्' इस आपस्तम्बसूत्र के अनुसार मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेद को ही धर्म में मूल नहीं कहा; अपि तु श्रुति-लिङ्ग-वाक्य-प्रकरण-स्थान-समाख्या से अनुमित अतिदेशकल्प वेद भी धर्म में प्रमाण माना है। अतएव अथर्ववेदप्रोक्त, तुला-पुरुष-शान्त्यादि सर्वसाधारण कर्म भी धर्म ही हैं। अर्थात् वेद के कर्म एवं उपासना और ज्ञान के प्रतिपादक तीनों ही काण्ड धर्म में प्रमाण हैं।

क्योंकि 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस विधिवाक्य से 'स्वाध्याय' पद-वाच्य समस्त वेदराशि का अध्ययन विहित है। यद्यपि 'अधीयत इत्यध्यायः, स्वस्याध्यायः स्वाध्यायः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार स्वशाखीय वेद ही स्वाध्याय पदार्थ है। फिर भी उसे उपलक्षण मानकर स्वशाखोपलक्षित समस्त वेदराशि के ही अध्ययन में विधि का तात्पर्य माना जाता है। 'वायुर्वा व गौतम अग्निः, 'योषा वाव गौतम अग्निः, आदित्यो वै देवानाम् मधु' इन उपासना-काण्डगत वाक्यों से उपासना का विधान है। जैसे प्रतिमाओं में देवताओं की उपासना की जाती है, वैसे ही वायु, स्त्री आदिकों में अग्निभावना से उपासना को जाती है। यद्यपि भेद में अभेदबुद्धि भ्रान्ति ही है और भ्रान्ति से फल की आशा भी दुराशा ही है; तथापि भ्रान्ति संवादी-विसंवादी भेद से दो प्रकार की होती है। मणि और प्रदीप की प्रभा में मणिबुद्धि से दौड़नेवालों की भ्रान्तियाँ बराबर हैं। फिर भी फल में भेद प्रत्यक्ष ही है। सिद्ध अर्थ का प्रतिपादन करनेवाली उपनिषदों का भी प्रामाण्य 'तत्तु समन्वयात्' इस सूत्र-भाष्य में श्रीमच्छङ्कर भगवत्पाद ने व्यक्त किया है। 'नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते' इत्यादि वचनों से ज्ञानकाण्ड का महत्त्व गीता में भी प्रति-पादित है। अर्थवादों का विधि-निषेध की स्तुति में और मन्त्रों का द्रव्यदेवता-स्मरण करने में तात्पर्य है। किंबहुना 'हावु' 'होयि' आदि स्तोत्रों की भी सामरूप गीति की पूरक होने से सार्थकता है, तो फिर मन्त्रों की सार्थकता में सन्देह ही नहीं हो सकता।

वेदों में मन्त्र, ब्राह्मण ये दो भेद एवं ऋक्, साम, यजु, अथर्वभेद वेद; उनमें भी मण्डल, अनुवाक् सूक्त, त्र्यृच, प्रपाठक, अध्याय और ब्राह्मण भेद हैं। ब्राह्मणों में भी विधि, अर्थवाद और अनुवाद ये तीन भेद कहे गये हैं। अर्थवाद में भी स्तुति,

निन्दा, परकृति, पुराकल्प ये चार विभाग और अनुवाद में भी विध्यनुवाद, विहितानुवाद भेद से दो भाग कहे गये हैं। इष्टसाधना-बोधक लिङ्, लोट्, तव्यदादि प्रत्यययुक्त वाक्य विधिवाक्य हैं। जैसे 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' इत्यादि। विध्यर्थ-प्रशंसा-परक वाक्य अर्थवाद कहे जाते हैं। स्तुति द्वारा विध्यर्थ में अधिकारी की शीघ्र ही प्रवृत्ति होती है। निन्दा के द्वारा निषिद्ध से निवृत्ति में सहायता मिलती है। ये ही दोनों स्तुति और निन्दारूप अर्थवाद हैं। 'सर्वजिता वै देवाः सर्वमजयन्'—देवताओं ने सर्वजित् याग से सबपर विजय पायी है, अतः सबको जीतने के लिए सर्वजित् यज्ञ करना चाहिए। 'सोऽरोदीत्' इत्यादि निन्दार्थवाद है। किसी पुरुष-विशेष में अन्योन्य-विरुद्ध दो धर्म कहे जायँ, यह परप्रकृति है। जैसे 'हुत्वा वपा-मेवाग्रेऽभिघारयन्त्यथ पृषदाज्यम्'। तदुह चरकाध्वर्यवः पृषदाज्यमेवा-ग्रेऽभिघारयन्ति'' अर्थात् होमकर वपा ही को बघारते हैं, उसके बाद पृषदाज्य को बघारते हैं। यजुर्वेद के चरक नामक अध्वर्यु पृषदाज्य को ही बघारते हैं। यहाँ सन्देह से विलम्ब न करना और दो में से किसी एक के बघारने में लग जाना, बताया है, इसीलिए यह परकृति है। 'अमुक लोग प्रथम इस कार्य को करते थे', इस तरह के वाक्य को 'पुराकल्प' कहते हैं। जैसे—'तस्माद्वा एतेन पुरा ब्राह्मणा बहिष्पवमानं सामस्तोम स्तौषन्'। यज्ञविस्तारार्थ ब्राह्मण लोग पूर्वकाल में बहिष्पवमान नामक सामस्तोत्र का प्रशंसन करते थे। शब्द का अनुवाद, विध्यनुवाद और अर्थ के अनुवाद को विहितानुवाद कहा जाता है। यह विभाग नैयायिकों के मतानुसार है। भट्टपाद ने अनुवाद को अर्थवाद में अन्तर्भूत कर गुणवाद, अनुवाद, भूतार्थवाद आदि तीन भेद माने हैं।

'विरोधे गुणवादः स्यादनुवादोऽवधारिते।
भूतार्थवादस्तद्धानादर्थवादस्त्रिधा मतः ॥'

इसी तरह विधि, निषेध, अर्थवाद, मन्त्र, नामधेय, उपनिषद् भेद से छः प्रकार का भी वेद परम्परा से प्रचालित है।

मनु, व्यास आदि शब्द प्राड्विवाक (जज) आदि के समान पदविशेष के ही वाचक हैं। तथा च मनु, व्यास आदि सर्वज्ञकल्प उक्त महर्षि गण अनादि काल से समय-समय पर आविर्भूत होते आये हैं। अतः उनके द्वारा प्रचलित भेद भी अनादि ही समझने चाहिए।

शास्त्रों के अर्थवाद की कल्पना लोक में भी बहुत प्रसिद्ध है। परन्तु वस्तुदृष्टि से कौन वाक्य किस तरह का अर्थवाद है, इसका ज्ञान बहुत कम लोगों को है। जिसे जो वाक्य मान्य नहीं होता, वह उसे क्षेपक या अर्थवाद कह देता है। परिस्थिति यहाँतक बिगड़ गयी कि विकराल पापों के फलों, दारुण नरकयातनाओं के वर्णन को भयानक (अर्थवाद), सत्कर्मों के स्वर्गादि दिव्यफलों के बोधक वाक्यों को रोचक (अर्थवाद) कह दिया जाता है। परन्तु पूर्वकथनानुसार यह समझना परमावश्यक है कि अर्थवाद क्या है? 'अर्थस्य प्रयोजनस्य वदनं विध्यर्थप्रशंसापरं वचनमर्थवादः। स च स्तुत्यादिद्वारा विध्यर्थशीघ्रप्रवृत्तये प्रशंसति।" प्रयोजन बतलानेवाले विध्यर्थप्रशंसक वचनों को अर्थवाद कहा जाता है।

पूर्वमीमांसा के सूत्र, भाष्य, वार्त्तिक आदि ग्रन्थों में अर्थवादों और मन्त्रों पर पर्याप्त विवेचन किया गया है। अर्थवादवचनों के प्रामाण्य पर प्रथम पूर्वपक्ष किया गया है। 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानां तस्मादनित्यमुच्यते।' समस्त आम्नाय वेदादिशास्त्र का प्रवृत्तिरूप अथवा निवृत्तिरूप किसी क्रिया के ही प्रतिपादन में तात्पर्य होता है।

अतः जिन वचनों का क्रिया अर्थ नहीं है, उनकी अनर्थकता है। अतएव उनका अप्रामाण्य ही समझना चाहिए। 'शिष्यते हित-मुपदिश्यतेऽनेनेति शास्त्रम्' इस व्युत्पत्ति से हित-उपदेश करनेवाले वाक्यसमूह को ही शास्त्र कहा जा सकता है। अनिष्ट-परि-जिहीर्षु प्राणी को अनिष्ट-परिहार का उपाय एवं इष्ट-प्रेप्सु को इष्टप्राप्ति का उपाय उपदेश करना ही शास्त्र का काम है। 'न सर्पायाङ्गुलिं दद्यात्' (सर्प को अङ्गुलि न दे) 'ज्वरितः पथ्यम-श्नीयात्' (ज्वराक्रान्त को पथ्य ही खाना चाहिए) इस तरह के अनिष्ट से निवृत्ति बतलानेवाले निषेध और इष्ट में प्रवृत्ति का उपदेश करनेवाले विधि को ही मुख्यशास्त्रत्व होता है। इस दृष्टि से वेद के भी 'अहरहः सन्ध्यामुपासीत, अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' इत्यादि (इष्टसाधनताबोधक या इष्टप्राप्ति में प्रवर्त्तक) विधिवाक्यों का एवं 'सुरां न पिबेत्' 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' इत्यादि निषेधवाक्यों का ही मुख्य शास्त्रत्व और प्रामाण्य सिद्ध होता है। अर्थवाद और मन्त्रों में प्रवर्त्तकता या निवर्तकता न होने से उनका क्रिया में तात्पर्य नहीं है। अतः उनका प्रामाण्य दुर्घट है। अतएव 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः, तस्य ज्ञानमुपदेशः, तद्-भूतानां क्रियार्थेन समाम्नायः' इत्यादि सूत्रों से विधि और निषेध का ही प्रामाण्य कहा गया है। तद्भिन्न शब्दों से धर्माधर्म का ज्ञान कथमपि नहीं हो सकता। अज्ञात अर्थ का ज्ञान कराना ही शब्दों का कार्य है। अतः साध्य (स्वर्गादि फल), साधन (यज्ञादि क्रिया) और उसकी इतिकर्त्तव्यता (अनुष्ठान का प्रकार और अङ्ग-क्रियाओं) के बोधक जितने शब्द विधि-प्रतिषेध के अन्तर्गत हो जाते हैं, उन्हींका प्रामाण्य होता है। जिन वाक्यों का साध्य, साधन, इतिकर्त्तव्यता अर्थ नहीं हैं, उन मन्त्र एवं नामधेय में आनेवाले 'सोऽरोदित्, इषेत्वोर्जे त्वा (वह रोया, रोने से ही उसका नाम रुद्र पड़ गया, उसके आँसू

ही रजत बन गये, हे शाखे ! अन्न या अभीष्टपूर्ति के लिए मैं तुझे काटता हूँ) इत्यादि अर्थवाद-वाक्यों का अपौरुषेय और स्वार्थप्रतिपादनक्षम होने पर भी धर्माधर्म में प्रामाण्य नहीं है, कारण उनके सरल और स्पष्ट अर्थ से प्रवृत्ति तथा निवृत्ति की प्रतीत नहीं होती।

क्लिष्ट कल्पना से तो विधि, निषेध दोनों ही बनाये जा सकते हैं। जैसे "जब रुद्र जैसे बड़े लोगों ने रोदन किया है, तब मुझे भी रोदन करना चाहिए", इस तरह विधि बन सकती है। दूसरे यह कि 'रोना' बड़े-बड़े लोगों को भी आक्रान्त कर लेता है, अतः उससे बचने का प्रयत्न करना चाहिए' इस तरह निषेध भी निकल सकता है। ऐसी स्थिति में विधि-निषेध का निर्णय अशक्य हो जाता है। इसीलिए यथाश्रुत स्पष्ट अर्थ का ही ग्रहण उचित है। उसमें विधि, निषेध का कुछ भी सम्बन्ध नहीं है।

सभी अर्थवाद झूठी स्तुति या झूठे (मिथ्या) अर्थ को प्रतिपादन करते हों, यह बात नहीं। "धूम एवाग्नेर्दिवा ददृशे" दिन में अग्नि का धूम ही दिखाई देता है। इन मिथ्यार्थ प्रतिपादक अर्थवादों के अतिरिक्त "वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता" इत्यादि अर्थवाद सत्यार्थ के ही प्रतिपादक हैं। तथापि विधि-निषेध से बहिर्भूत होने से उनका प्रामाण्य नहीं है। किसी विधि-निषेध के भीतर लाने के लिए इनके अर्थ में परिवर्तन करना भी ठीक नहीं, कारण विधि-निषेधसम्बन्ध के बिना भी वे अपने सत्य या मिथ्या अर्थ का प्रतिपादन कर ही सकते हैं। जो यह कहा जाता है कि विधि-निषेधसम्बन्ध बिना किसी वृत्तान्त मात्र का प्रतिपादन व्यर्थ है, अतः अर्थवादों की सार्थकता के लिए विधि-निषेधसम्बन्धानुकूल स्तुति या निन्दारूप अर्थान्तर की

कल्पना युक्त ही है, जिससे प्रवृत्ति या निवृत्तिरूप प्रयोजन के साधक होने से वाक्य में सार्थकता आ जायगी। यह कथन भी अनर्गल है; कारण जिस वाक्य का जो अर्थ है, उसका वही अर्थ है। निष्प्रयोजक होने मात्र से अर्थ का परिवर्त्तन नहीं हो सकता।

क्या लोष्ठ या पाषाणादि का दर्शन निष्प्रयोजन है ? अतः लोष्ठ-दर्शन को सुवर्ण-दर्शन मान लिया जाय। वस्तुतः शब्द ही क्या, सभी प्रमाण अपने यथाभूत विषय का ही प्रकाश करते हैं। चाहे वह सप्रयोजन हो, चाहे निष्प्रयोजन, उसीसे हान, उपादन एवं उपेक्षाबुद्धियाँ उत्पन्न होती हैं। यदि प्रमाण सप्रयोजन विषय का ही बोध करायें, तब तो उनसे केवल उपादानबुद्धि का ही प्रादुर्भाव होगा; हान, उपेक्षाबुद्धि की कथा ही मिट जायगी। किञ्च प्रमाण से अर्थज्ञान होने के उपरान्त ही अर्थ की सप्रयोजनता और निष्प्रयोजनता का निर्णय होगा। फिर सप्रयोजनता के अधीन प्रमाणोत्पत्ति की कल्पना कैसे संगत हो सकती है ?

इसलिए जो अर्थ जिस रूप से प्रमाण द्वारा निश्चित होता है, उसे वैसा ही समझना चाहिए, चाहे वह सप्रयोजन हो या निष्प्रयोजन। सप्रयोजन वस्तु की ही प्रमिति हो, ऐसा कोई भी नियम नहीं है। फिर बुद्धिप्रयत्ननिरपेक्ष, नित्यसिद्ध वेद-जन्य-ज्ञान से ग्राह्य अर्थ में तो सुतरां अर्थ बदलने की कोई आवश्यकता नहीं। इसलिए जो अर्थवादों का सहज अर्थ हो, वही ग्रहण करना चाहिए। यदि प्रयोजनवत्ता के लिए अर्थ बदला जायगा, तब तो शब्दों का भी बदलना अनिवार्य हो जायगा, क्योंकि स्तुति या निन्दारूप अर्थ उनके वास्तविक शब्दों से नहीं निकलते।

इस तरह शब्द और अर्थ दोनों ही बदल दिये जायँगे, तब तो उनकी मूल सत्ता ही मिट जायगी। फिर जो वाक्य किसी पुरुष द्वारा रचा गया हो, उसमें वक्ता का तात्पर्य निकालने के लिए खींच-खाँच करने का अवकाश भी रहता है, परन्तु जो किसीके द्वारा रचित नहीं हैं, ऐसे नित्य वेद के अर्थवाद-वाक्यों में तो तात्पर्यानुसार भी अर्थ बदलने का अवसर नहीं है। फिर यह तो अभी विचारणीय विषय है कि वेद सफल ही अर्थ का प्रतिपादन करते हैं या निष्फल का भी ?

फिर वेद जैसे अर्थ का प्रतिपादन करते हैं, हमलोग जानकर केवल उसके अनुष्ठान के ही अधिकारी हैं अथवा वेद क्यों निष्प्रयोजन अर्थ का प्रतिपादन करते हैं, ऐसा प्रश्न भी कर सकते हैं ? यदि वेद निष्प्रयोजन अर्थ के प्रतिपादक हों, तो उनका आदरपुरस्सर क्यों अध्ययन किया जाता है ? अध्ययन के अनन्तर वेदार्थज्ञान से तो सभीको वेद के परतन्त्र ही होना पड़ेगा। उसके पहले कोई परीक्षा भी कैसे कर सकता है। अध्ययन के अनन्तर मीमांसा द्वारा वेदों के सफल या निष्फल अर्थ पर विचार करने से यही निश्चय होगा कि जैसे विधिवाक्यों का सप्रयोजन होना उनके अर्थ से ही निश्चित है, वैसे ही अर्थवादों का सप्रयोजन होना उनके अर्थ से ही निश्चित नहीं होता। मीमांसा से परीक्षा करनेवालों का यही कार्य है कि प्रमाणसिद्ध वस्तु को स्वीकार करें, चाहे वह अपने प्रयोजन की हो अथवा न हो।

यदि क्लिष्ट-कल्पना से अर्थवादों का स्तुति या निन्दारूप अर्थ निकाल भी लिया जाय, तब भी वह साध्य, साधन, इतिकर्त्तव्यता के बहिर्भूत होने से विधि-निषेध के भीतर नहीं आ सकता। विधि-निषेध-सम्बन्ध के बिना स्तुति न विहित कर्म

में प्रवृत्ति करा सकती है, न निन्दा निषिद्ध कर्म से निवृत्ति करा सकती है। इसके अतिरिक्त अर्थवादों की स्तुति एवं निन्दारूप अर्थकल्पना करने के उपरान्त उनका विधि-निषेध के साथ सम्बन्ध हो सकता है। सम्बन्ध के उपरान्त ही अर्थवादों का विधि-निषेधसम्बन्धोपयोगी स्तुति या निन्दारूप अर्थ कल्पित होगा। इस तरह सम्बन्धकल्पनाधीन स्तुतिनिन्दा-कल्पना से सम्बन्ध की कल्पना होगी। तथा च अन्योन्याश्रय दोष अनिवार्य होगा। तस्मात् अर्थवाद और मन्त्र का कोई भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होता।

अर्थवाद व्यर्थ और असत्य अर्थ का ही बोधन करते हैं— 'स्तेनं मनोऽनृतवादिनी वाक्' (मन चोर है, वाणी झूठी है) यह अर्थवाद स्वतः पुरुष की प्रवृत्ति-निवृत्ति में कथमपि उपयोगी नहीं है। यदि इसकी सफलता के लिए 'मनः स्तेनं वाचमनृतां कुर्यात्' (मन को चोर और वाक् को झूठी बनायें) ऐसी विधि की कल्पना की जाय, तो शास्त्र-विरोध उपस्थित होगा। क्योंकि 'नानृतं वदेत्' यह शास्त्र अनृतवदन का निषेध करता है। इसके अतिरिक्त 'धूम एवाग्निर्दिवा ददृशे' (अग्नि का धूम ही दिन को दीखता है, अग्नि नहीं) यह अर्थवाद प्रत्यक्ष से ही विरुद्ध अर्थ का बोधक है, कारण प्रत्यक्षा ही दिन में भी अग्नि का दर्शन होता है।

ऐसे ही प्रत्यक्ष ब्राह्मण में भी 'वयं ब्राह्मणा वा अब्राह्मणा वा' (हम लोग ब्राह्मण हैं या अब्राह्मण) इत्यादि सन्देह प्रत्यक्ष-विरुद्ध है। कहा जा सकता है कि ब्राह्मणत्वादि तो प्रत्यक्ष नहीं हैं, फिर प्रत्यक्ष-विरोध कैसे कहा जा सकता है ? परन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि 'ब्राह्मण्यां ब्राह्मणाज्जातः' ब्राह्मणी में ब्राह्मण से उत्पन्न होने का औपदेशिक ज्ञान होने पर 'यह ब्राह्मण है'

यह प्रत्यक्ष ही होता है। जैसे मूल ब्राह्मणों में प्रजापतिमुखजत्वज्ञान ब्राह्मणत्व का व्यञ्जक है, उसी तरह शाखाभूत ब्राह्मणों में ब्राह्मण माता-पिता से जन्य होने का ज्ञान ब्राह्मणत्व का व्यञ्जक होता है। उदयनाचार्य के अनुसार यद्यपि सामान्य ब्राह्मण ब्राह्मण-ब्राह्मणी से ही उत्पन्न होते हैं, तथापि मूल ब्राह्मण प्रजापति की मुखशक्ति से ही उत्पन्न हुए थे। जैसे सामान्य बिच्छू बिच्छू से ही उत्पन्न होते हैं फिर भी प्रथम बिच्छू गोमय से होते हैं। सामान्य चौराई से चौराई उत्पन्न होती है, फिर भी प्रथम चौराई तण्डुलकण से उत्पन्न होती है। वह्नि से वह्नि की उत्पत्ति दृष्ट होने पर भी प्रथम अग्नि अरणि से उत्पन्न होती है। इसी तरह क्षीर, दधि, घृत आदि अपने अवयवभूत दुग्धादि से ही उत्पन्न होते हैं। परंतु प्रथम दुग्धादि निरवयव परमाणुओं से ही होते हैं। इसी तरह सामान्य मनुष्यादि मनुष्यादि से ही उत्पन्न होते हैं, तथापि प्रथम मनुष्यादि पूर्वजन्मकृत कर्मसापेक्ष भूतों से ही उत्पन्न होते हैं। जैसे गोव्यक्ति के प्रत्यक्ष होने पर गोत्व प्रत्यक्ष होता है, इसी तरह ब्राह्मण-जन्यताज्ञान से व्यक्ति में ब्राह्मणत्वादि का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है।

'शोभतेऽस्य मुखं य एवं वेद।'—गर्गत्रिरात्र ब्राह्मण में कहा है कि इस पूर्वोक्त विषय के जाननेवाले का मुख शोभित होता है, परन्तु जो कुमुख है, उसका मुख उस विषय के जानने पर भी सुन्दर नहीं होता। अतः ये वेदवचन झूठा ही अर्थ कहते हैं। ऐसे ही 'पूर्णाहुतिमुत्तमां जु होति' (यज्ञान्त में पूर्णाहुति दे) इस विधि का अर्थवाद है—'सर्वमेवाप्नोति' (सभी फल पाता है)। यदि यह सत्य है कि पूर्णाहुति से ही सब फलों की प्राप्ति हो जाती है, तब तो पूर्व की क्रियाओं का विधान व्यर्थ ही हुआ।

सर्वत्र प्राप्त का ही निषेध होता है, परन्तु 'नान्तरिक्षे चिन्वीत' यहाँ अत्यन्त अप्राप्त अन्तरिक्ष में अग्निचयन का निषेध है। 'बर्वरः प्रावहणि' इत्यादि में अनित्य पुरुषों का भी सम्बन्ध वेद में आता है, जिससे वेदों की अनित्यता भी सिद्ध होती है। यहाँ सिद्धान्ती कह सकता है कि अर्थवादों का अर्थ चाहे सत्य हो अथवा झूठ, स्तुति तो असत्य गुणों से भी हो ही जाती है। अर्थवादों का स्तुति में ही तात्पर्य है, वाच्यार्थ में उनका तात्पर्य ही नहीं है। फिर वाच्यार्थ के झूठे होने से क्या हानि है? परन्तु उसका यह कथन सङ्गत नहीं, क्योंकि अर्थवादों का अपने वाच्य में तात्पर्य नहीं है, तो दूसरा भी उनका तात्पर्य नहीं हो सकता। स्तुतिरूपी अर्थ उनके शब्दों से निकलता नहीं है, तब अवश्य ही वाच्यार्थ में उनका प्रामाण्य मानना पड़ेगा। फिर तो बर्बर आदि की अनित्यता उनमें अवश्य ही आयेगी। कथञ्चित् बर्बर का वायु आदि अर्थ मान भी लिया जाय, तो भी हर एक आख्यानों के शब्दों का अर्थ नहीं बदला जा सकता। यदि उन अंशों का अप्रामाण्य होगा ही, तब बर्बर आदि का ही अर्थ बदलने का क्यों आयास किया जाय? स्थिति तो यह है जैसे कि प्रत्यक्षादि प्रमाणों में शब्द और शब्दों में वेद का प्रामाण्य है, उसी तरह वेदों में भी विधि-निषेध-वाक्य ही प्रमाण हैं और सब अप्रमाण ही हैं। जो कहा जाता है कि 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस विधि से वेद का सभी अंश पुरुषार्थ का साधन है, वह भी 'कथञ्चित्' पाठ से अदृष्ट-उत्पादन द्वारा हो सकता है, परन्तु उनका कुछ अर्थ है—ऐसा तो नहीं कहा जा सकता।

इस तरह पूर्वपक्ष करके मीमांसा में ही 'विधिना त्वेकवाक्यत्वात्स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः' इत्यादि सूत्रों से अर्थवाद आदि का

प्रामाण्य कहा गया है। अभिप्राय यह है कि विधि-वाक्य अपने विधेय यज्ञादि क्रिया में पुरुषों को प्रवृत्त करने के लिए विधेय की स्तुति चाहता है। इसलिए स्तुतिरूप अर्थ के द्वारा अर्थवाद-वाक्य विधि-वाक्यों से मिलकर, विधि-वाक्यों में ही अन्तर्गत होकर दोनों एक महावाक्य हो जाते हैं। अतः प्रवर्त्तक होने से, प्रमाणभूत विधि-वाक्य के अन्तर्गत होने से अर्थवादों का भी प्रामाण्य हो जाता है। नष्टाश्वदग्धरथन्याय से दोनों मिलकर, विधि-वाक्य अर्थवाद की प्रयोजनाकांक्षा और अर्थवाद विधि-वाक्य की प्रशंसाकांक्षा को पूरा कर दोनों ही सफल और कृतकार्य हो जाते हैं।

यद्यपि विधिवाक्य यज्ञादि में पुरुष को स्वयं ही प्रवृत्त करते हैं, तथापि परिश्रम और धनव्यय के कारण यज्ञों से मन हटता है। ऐसी स्थिति में अर्थवाद प्रशंसा द्वारा मन को हटने न देकर प्रोत्साहन देते हैं। इसलिए विधि-वाक्यों के अङ्ग (सहायक) होकर अर्थवाद भी धर्म में प्रमाण होते हैं। जैसे लोक में 'यह गौ खरीदो' यह बिधि होती है, तो 'यह गौ बिकाऊ और बहुत दूध देनेवाली है, इसके बच्चे जिया करते हैं' इत्यादि अर्थवाद भी होते हैं। विधि-वाक्य से पुरुष की क्रय में प्रवृत्ति होती है, परन्तु मूल्य ज्यादा होने से मन हटता है। तब अर्थवाद से गौ के गुण दिखाकर उसे खरीदने को प्रोत्साहित किया जाता है। वैसे ही 'वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः' (ऐश्वर्य चाहनेवाला श्वेत छाग द्वारा वायु का यजन करे।) इस विधि का अर्थवाद है—'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता, 'वायुमेव स्वेन भागधेयेनोपधावति', स एवैनं भूतिं गमयति।' वायु अतिशीघ्रकारी देवता है। यज्ञकर्त्ता को शीघ्र ही ऐश्वर्य देता है।

यहाँ शङ्का होती है कि 'इस विषय में लोकदृष्टान्त नहीं चल

सकता, क्योंकि लौकिक अर्थवादों के पदों का वाच्यार्थ विधि के साथ सम्बन्ध रखता है, परन्तु वैदिक अर्थवादों के तो किसी पद का यह अर्थ नहीं होता कि यह यज्ञ अच्छा है। ऐसी स्थिति में विधि के साथ एकवाक्यता कैसे हो सकती है?' इसका समाधान यह है कि पदों का अर्थ चाहे जो भी हो, परन्तु पूर्ण अर्थवाद का अर्थ स्तुति (ये यज्ञ आदि अच्छे हैं) ही है। यह अर्थ उनका वाच्यार्थ नहीं है, किन्तु लक्ष्यार्थ है। शब्दों का साक्षात् सम्बन्ध शक्ति और व्यवहित (परम्परा) सम्बन्ध लक्षणा कहलाता है। शक्ति सम्बन्ध से बोधित अर्थ शक्य और लक्षणा से बोधित अर्थ लक्ष्य कहलाता है। यष्टि शब्द का शक्यार्थ लाठी है, परन्तु 'यष्टियों को खिलाओ' यहाँ यष्टिशब्द से लाठीवाले पुरुष लक्षणा से विवक्षित होते हैं। इसी तरह अर्थवाद भी लक्षणा से यज्ञ की प्रशंसा का बोध करायेंगे।

फिर भी कहा जाता है कि 'अर्थवाद के पद लक्षणा से स्तुतिबोधक होते हैं, इसमें कोई प्रमाण नहीं है। यदि विधियों के साथ एकवाक्यता की अनुपपत्ति से शक्यार्थ छोड़कर लक्ष्यार्थ ग्रहण करने में एकवाक्यता को ही प्रमाण कहें, तो यह प्रश्न होगा कि एकवाक्यता ही क्यों हो? यदि लक्षणा द्वारा स्तुति का विधि के साथ सम्बन्ध है, अतः लक्षणा ही एकवाक्यता में प्रमाण है, तब तो अन्योन्याश्रय दोष अनिवार्य होगा। बिना एकवाक्यता के लक्षणा नहीं और बिना उसके एकवाक्यता नहीं।' उसका उत्तर यह है कि अर्थवाद धर्म-मूल है, अतः धर्म-मूलता की उपपत्ति के लिए वे वाच्यार्थ को छोड़कर लक्षणा से विधेय की स्तुति करते हैं। जैसे 'यह घट है' इस वाक्य से पुरुष की किसी क्रिया में प्रवृत्ति नहीं होती, इसी

तरह सिद्ध अर्थ के बोध से यज्ञादि में पुरुष प्रवृत्ति नहीं होती। अतएव लक्षणा से स्तुतिरूप अर्थ का विधि के अर्थ से सम्बन्ध होता है। तभी एकवाक्यता से अर्थवाद धर्म में प्रमाण होते हैं।

कहा जाता है कि 'यष्टियों को भोजन कराओ, यहाँ तो यष्टि और भोजन का सम्बन्ध स्पष्ट है, अतः लक्षणा से यष्टि का अर्थ यष्टिवाला होना ठीक ही है। परन्तु अर्थवाद का तो यज्ञ या यज्ञ कारण कोई भी अर्थ नहीं है, तब उनके अर्थ से किसी पुरुषार्थ की कल्पना ही नहीं हो सकती। ऐसी स्थिति में अर्थवाद को पुरुषार्थ या धर्म का मूल भी कैसे माना जाय? फिर धर्ममूलता के उपपादन के लिए लक्षणा से उनका स्तुतिरूप अर्थ क्यों माना जाय?' इसका समाधान यही है कि जैसे लौकिक अर्थवाद 'यह गौ अच्छी है' इत्यादि गोक्रयण द्वारा दुग्ध आदि पुरुषार्थप्राप्ति का मूल है, उसी तरह वैदिक अर्थवाद भी लक्षणा से यज्ञस्तुति द्वारा यज्ञ में प्रवृत्त कराकर यज्ञफलरूप पुरुषार्थ का मूल होता है। अतः धर्म-मूलत्व अर्थवाद में स्पष्ट है। फिर उसकी उत्पत्ति के लिए अर्थवाद की स्तुति में लक्षणा क्यों न हो?

फिर भी कुछ लोगों का कहना है कि 'लौकिक अर्थवाद-वाक्यों का निर्माता तो कोई पुरुष होता है और वह प्रमाणान्तर से अर्थों को समझता है। अतः लौकिक अर्थवादों की प्रमाणता अन्य प्रमाणों के अधीन है। इसीलिए वक्ता का तात्पर्य स्तुति में समझकर वाच्यार्थ छोड़कर स्तुति में अर्थवादों की लक्षणा मानी जाती है। परन्तु वैदिक अर्थवाद तो अपौरुषेय वाक्य है। उनका अर्थ अन्य प्रमाणों से ज्ञात नहीं होता। जैसे वायु का देवता होना, शीघ्र ही ऐश्वर्य का देना, आदि। इससे वक्ता के तात्पर्य और प्रत्यक्षादि प्रमाण के अनुसरण से

भी उनके वाच्यार्थ का भङ्ग नहीं हो सकता और न लक्षणा ही ही हो सकती है। अतः उनके अक्षरों से जो अर्थ निकले, वही अर्थ मानना चाहिए।

'कहा जाता है कि साधारण चिकित्सा-शास्त्र आदि के वाक्यों का भी मुख्य अर्थ छोड़कर लक्षणा से मनमाना अर्थ नहीं किया जाता। शास्त्रकारों की सत्यवादिता पर विश्वास के कारण ही लोग उनके वाक्यों का अर्थ समझते हैं। फिर निर्दोष अपौरुषेय वैदिक अर्थवादों के वाच्यार्थ का त्याग कैसे किया जा सकता है? स्वतः वैदिक अर्थवादों की विधि के साथ एकवाक्यता झलकती नहीं। अर्थवाद पुरुषार्थ के सहकारी हैं, इसमें कोई प्रमाण नहीं मिलता। फिर एकवाक्यता भी कैसे हो?'

परन्तु यह सब कहना ठीक नहीं है। क्योंकि "तुल्यञ्च साम्प्रदायिकम्"। अनादि सम्प्रदाय-परम्परा से सिद्ध होना और अनध्याय में न पढ़ने आदि का नियम जैसे विधिभाग में पाला जाता है, वैसे ही अर्थवाद भागों में भी पाला जाता है। अतः अर्थवाद की ही कौन कहे, वेद का सभी अंश धर्म में प्रमाण है। धर्म के प्रति प्रमाण होना ही पुरुषार्थ का सहकारी कारण होना है। अर्थवाद यदि पुरुषार्थोपयोगी न होता, तो विचारशील पुरुष अनादिकाल से आदरपूर्वक उसका अध्ययन ही न करते। बिना प्रमाण के उन अध्येताओं को अज्ञानी कहना भी सिवा मोह के और क्या है? इस तरह पुरुषार्थ के उपकारक अर्थवादों की लक्षणा द्वारा अवश्य ही स्तुति-अर्थ मानकर विधि-वाक्यों से एकवाक्यता करनी चाहिए।

यहाँ शङ्का की जाती है कि 'क्या अर्थवादों की पुरुषार्थ-सम्बन्धिता अपने आदर और परिश्रम की अन्यथानुपपत्ति से

मानी जायगी, अथवा अन्य लोगों के आदर आदि से ? पहले पक्ष में तो अन्योन्याश्रय होगा, क्योंकि पुरुषार्थसम्बन्धित्व-ज्ञान से ही अध्ययनादि में आदर होगा और आदर से ही उनकी पुरुषार्थसम्बन्धिता मानी जायगी। यदि अन्य लोगों के आदर से ऐसी कल्पना करें, तो भी मूल प्रमाण के बिना वह भी अन्धपरम्परा ही समझी जायगी। जैसे किसी अन्धे ने कह दिया 'दूध काला होता है'। उसे सुनकर दूसरे-तीसरे एवं अनेक अन्धे कहने लग जायँ, तो क्या इतने से ही दूध काला हो जायगा ?

'परन्तु स्पष्ट है कि श्वेत या काले दूध के ज्ञान के मूल चक्षुप्रमाण के बिना यह कहना और मानना व्यर्थ ही है। इसी तरह किसको अर्थवादों का आदर करते या पुरुषार्थ-मूल मानते देख या समझकर अन्यान्य लोग भी वैसा ही मानने लगते हैं, परन्तु जबतक कोई मूल प्रमाण न मिले, तबतक उनकी पुरुषार्थमूलता मानना अन्धपरम्परा ही है। अनुमान या प्रत्यक्ष किसीसे भी मन्त्रार्थवादों में पुरुषार्थमूलता नहीं सिद्ध होती। ऐसा कोई वेदवाक्य भी नहीं है, जिससे अर्थवादों की पुरुषार्थमूलता सिद्ध हो। यदि हो, तो भी उसे पहले अपनी पुरुषार्थमूलता और प्रमाणता सिद्ध करनी होगी। क्योंकि जो स्वयं ही अप्रमाण है, उससे दूसरे की पुरुषार्थमूलता आदि कैसे सिद्ध होगी ? स्वयं अपने में प्रमाण का व्यापार नहीं होता, अतः उस वेदवाक्य से उसकी पुरुषार्थसम्बन्धिता या प्रमाणता भी सिद्ध नहीं हो सकती। अतः अर्थवादों की पुरुषार्थानुबन्धिता स्तुति में लक्षणा, विधि के साथ एकवाक्यता आदि कुछ भी सिद्ध नहीं हो सकता।'

इन शङ्काओं का समाधान यह है कि 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः'

यह विधिवाक्य ही वेद के सभी अंशों की पुरुषार्थसाधनता में प्रमाण है। यह अपने सहित समस्त वेदवाक्यों को पुरुषार्थमूल सिद्ध करता है। इसका अर्थ है—वेद का अध्ययन अवश्य ही करे। अतः वेद में एक अक्षर या मात्रा की भी निरर्थकता नहीं कही जा सकती। फिर शब्दसमूहरूप मन्त्र, अर्थवाद कैसे निरर्थक होंगे ? जिसकी निरर्थकता होती है, उसके अध्ययन में विवेकियों को विधिवाक्य प्रवृत्त नहीं करा सकता। जब वह समस्त वेद के अध्ययन में विवेकियों को प्रवृत्त कराता है, तो किसी भी अंश की पुरुषार्थशून्यता नहीं हो सकती।

इस पर लोगों का कहना है कि 'इस तरह अर्थवाद आदि की सार्थकता मान लेने पर भी इस वाक्य से यह तो नहीं सिद्ध होता कि अर्थवाद आदि किस तरह पुरुषार्थ के साधक हैं। अतः यही मान लेना बहुत है कि उनके पाठ से कुछ अदृष्ट या घृत-कुल्यादि फल प्राप्त होता है। परन्तु उनके अर्थज्ञान की कोई आवश्यकता नहीं जान पड़ती। फिर स्तुति में लक्षणा, विधि के साथ एकवाक्यता आदि की बात तो दूर ही हो जाती है।'

इसका समाधान यह है कि जैसे इसी अध्ययनविधि से विधिवाक्यों की सफलता के लिए उनका अपने अर्थ का ज्ञान कराकर, उसीके द्वारा यज्ञादि क्रियाओं का अनुष्ठान कराकर, स्वर्गादि अलौकिक पुरुषार्थ का साधन करना आदि अर्थ निकाला जाता है। जैसे 'व्रीहीन् अवहन्ति' (धान को कूटें) इस विधि को नियमविधि इसलिए मानना पड़ता है कि पुरोडाश के लिए व्रीहि से तण्डुल बनाना आवश्यक है। वह जैसे कूटने से हो सकता है, वैसे ही नखविदलनादि द्वारा भी हो सकता है। तण्डुल बनाने के ये दोनों ही उपाय लौकिक दृष्टि से ही प्राप्त हैं। परन्तु विधि लोक से अप्राप्त में ही होती है—'विधिरत्यन्त-

मप्राप्तौ'। जब यहाँ लोकदृष्टि से ही चावल के लिए व्रीहि का अवघात प्राप्त है, तब तो उसके विधान के लिए अपूर्वविधि नहीं हो सकती। अतः 'नियमः पाक्षिके सति' पाक्षिक प्राप्ति में नियम होता है, इस दृष्टि से 'अवघातेनैव तण्डुलनिष्पत्तिं कुर्यात् न तु नखविदनादिना' इस नियमविधि से यह सिद्ध किया गया कि अवघात से ही निष्पन्न तण्डुल के द्वारा किये गये पुरोडाश से साध्य यज्ञादि से स्वर्ग होगा, नखविदलनादि से निष्पन्न तण्डुल द्वारा किये गये यज्ञ से नहीं। इसी तरह उक्त 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' यह अध्ययनविधि विधिवाक्यरूप वेदभाग के विषय में नियमविधि रूप से लागू होती है, क्योंकि साधारण रूप से किसी भी ग्रंथ का अर्थज्ञान करने के लिए उसका अध्ययन अन्वय-व्यतिरेकादि लौकिक युक्तियों से ही प्राप्त होता है। इसके लिए विधि निरर्थक है। फिर तो नियम से ही विधि की सार्थकता हो सकती है। वह नियम इस तरह का बनता है कि 'गुरुपूर्वक अध्ययन से ही वेदों को पढ़कर उनके अर्थों को जानकर, किये यज्ञों से स्वर्गादिरूप पुरुषार्थ की सिद्धि होती है।' व्याकरण, निरुक्त आदि द्वारा उनका अपने-आप अर्थ जानकर किये गये यज्ञों से स्वर्गादि नहीं होते। जैसे विधिवाक्य वेद हैं, वैसे ही अर्थवाद और मन्त्र भी वेद हैं। अतः उनके विषय में भी अध्ययनविधि को नियमविधि ही होना चाहिए। परन्तु यदि अक्षरपाठमात्र द्वारा उनकी पुरुषार्थसाधकता मानी जायगी, तब तो वह व्याकरण, निरुक्तादि द्वारा अर्थज्ञान की तरह मानान्तर से प्राप्त नहीं है। अतः "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" से ही अर्थवादादि की अक्षरपाठ द्वारा अदृष्टसाधकता सिद्ध होगी। इस दृष्टि से अर्थवाद आदि अंशों में "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" विधि अपूर्व-विधि समझी जायगी।

कहा जायगा कि 'तब क्या हानि है, विषयभेद से अध्ययन-विधि को अपूर्व और नियम दोनों ही विधि मान लें' परन्तु यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि 'सकृदुच्चरितः शब्दः सकृदेवार्थं गमयति' इस न्याय के अनुसार एक बार उच्चरित शब्द एक ही अर्थ का बोध कराता है। अतः एक ही विधिवाक्य से विधि आदि के अंश में नियमविधि और मन्त्र-अर्थवाद के विषय में अप्राप्तांश का विधान ये दोनों अर्थ बोधित होंगे, यह नहीं कहा जा सकता।

कहा जाता है कि जब विधिवाक्यों और अर्थवादादि वाक्यों दोनों के ही अध्ययन का विधान 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इसी एक विधि से ही करना है तब विधि-अंश में नियम-विधि मानने का ही आग्रह क्यों किया जाय? सर्वत्र ही पाठ-मात्र से पुरुषार्थ प्राप्त है ही। विधि-मन्त्र अर्थवाद सभीके अध्ययन का विधान अपूर्व ही क्यों न मान लिया जाय? तात्पर्य यह कि वेद का अध्ययन-विधान उसके किसी भी भाग के अर्थज्ञान द्वारा पुरुषार्थप्राप्ति के लिए न मानकर, पाठ द्वारा ही सभी भाग का फलप्राप्त्यर्थ क्यों न माना जाय? इस पर मीमांसकों का कहना है कि अध्ययन का अर्थज्ञानरूप दृष्ट (लोकसिद्ध) फल है, परन्तु अक्षरपाठ का कोई दृष्ट-फल लोकप्रसिद्ध नहीं है। ऐसी स्थिति में दृष्टफल को छोड़कर अदृष्टफल की कल्पना करना अनुचित है। तस्मात् अध्ययन-विधि का अर्थज्ञानरूप दृष्ट ही फल मानना उचित है। यथा—"सम्भवति दृष्टफलकत्वेऽदृष्टफलकल्पनाया अन्याय्यत्वात्।" परन्तु जब कि वह लोक से ही प्राप्त है, तब अध्ययनविधि को नियमविधि-मान 'गुरुपरम्परा के द्वारा अर्थ जाने बिना यज्ञादि का अनुष्ठान न करना चाहिए' इस निषेध में अवश्य ही उसका तात्पर्य मानना चाहिए।

इस स्थिति में विधि की तरह अर्थवाद-मन्त्र में अर्थज्ञान द्वारा ही स्वर्गादि-साधकता माननी चाहिए। यदि अध्ययनविधि का अर्थज्ञान ही मुख्य फल माना जाय। तब सन्देहविरोधादि मिटाने के लिए तत्प्रयुक्त वेदार्थविचाररूप पूर्वोत्तरमीमांसा का उत्थान हो सकता है। अन्यथा पाठ से ही पुरुषार्थ सिद्ध हा जाने पर वेदार्थ-विचार के लिये मीमांसा की अपेक्षा ही क्या रह जाती है? अतः जैसे अध्ययनविधि वेद के अध्ययन का विधान करती हुई वेद में प्रामाण्य सिद्ध करती है, वैसे ही वेदार्थ के विचार का विधान करती हुई वही अध्ययनविधि मीमांसादर्शन में भी प्रामाण्य सिद्ध करती है। इस तरह जब अध्ययनविधि के बल पर ही समस्त वेद स्वर्गादिरूपी पुरुषार्थ के साधक हैं, तब उसके ही भाग मन्त्र और अर्थवाद पुरुषार्थ-साधक क्यों न होंगे?

इसपर कहा जाता है कि 'अध्ययनविधि से वेद के अध्ययन का विधान होता है। 'वेद पुरुषार्थ का साधन है' यह तो उसके किसी भी अक्षर से नहीं निकलता। स्वयं अध्ययन भी परिश्रम-रूप दुःख से प्राप्त होने से 'पुरुषार्थ' नहीं कहा जा सकता। विधि या अर्थवाद के किसी भी वाक्य के अध्ययन में पुरुषार्थ-रूपता या पुरुषार्थसाधकता नहीं कही जा सकती।" परन्तु विचार करने से विदित होगा कि उपर्युक्त कथन ठीक नहीं है। 'अध्येतव्यः' शब्द में आये हुए 'तव्य' प्रत्यय का अर्थ 'भावना' (करना) है। उसमें क्या (किसे) करे?—इस तरह भाव्य (किसी अभीष्ट) की आकाङ्क्षा होती है। 'अध्ये-तव्यः' 'इस पद में 'तव्य' से भिन्न अधि' + इ (अधि उपसर्ग पूर्वक इङ्) धातु ही बचा रहता है, जिसका अर्थ अध्ययन (पढ़ना) होता है। यदि उस अध्ययन से भाव्याकाङ्क्षा को

पूर्ति हो, तब तो 'अध्येतव्यः' का 'अध्ययन करें' ऐसा अर्थ निकलता है। परन्तु जब अध्ययन स्वयं कष्टरूप है, फलतः पुरुषार्थ नहीं है, तब उसकी भावना में सहस्रों उपदेशों से भी पुरुष क्यों प्रवृत्त होगा ? चूँकि उपदेशों का फल पुरुषप्रवृत्ति ही है, अतः यदि 'अध्येतव्यः' इस उपदेश से पुरुष की अध्ययन में प्रवृत्ति न हुई, तब तो यह उपदेश ही व्यर्थ होगा। अतः अध्ययन को भाव्याकाङ्क्षा का पूरक न मानकर साधनाकाङ्क्षा का ही पूरक मानना चाहिए। क्योंकि भावना (करने) को क्या (किसे) करे ? किससे करे और कैसे करे ?—इस तरह साध्य, साधन और इतिकर्तव्यताकाङ्क्षाएँ होती हैं।

जब अध्ययन का अन्वय 'साधनाकाङ्क्षापूरकत्वेन' हो गया, तब 'अध्येतव्यः' का "अध्ययन से सिद्ध करें" ऐसा अर्थ हुआ। फिर भी अभी साध्याकाङ्क्षा बनी ही है। यदि अध्ययन-साध्य अक्षरग्रहण से उसकी पूर्ति करें, तब अध्ययन से अक्षर ग्रहण करे—'अध्येतव्यः' का ऐसा अर्थ होगा। परन्तु तो भी व्यर्थ होगा। क्योंकि अक्षरग्रहण भी स्वयं पुरुषार्थ नहीं है। अक्षरग्रहण से भी, क्या करे ?—यह आकाङ्क्षा फिर भी बनी ही रहती है। यदि अध्ययन से अक्षरग्रहण और उससे स्वर्गादि अदृष्ट फल मानें अर्थात् अध्ययन से अक्षरग्रहण द्वारा स्वर्गादि फल की प्राप्ति—ऐसा 'अध्येतव्यः" विधि का अर्थ करें, तब भी 'अश्रुत एवं अदृष्ट फल की कल्पना और अक्षारग्रहण से उसकी सिद्धि'—ये दो कल्पनाएँ करनी पड़ेंगी। यदि अक्षारग्रहण से परे वाक्यज्ञान की कल्पना करें, तो वह भी स्वयं अपुरुषार्थ है। अतः वहाँ भी 'उससे क्या करें ?' ऐसी आकाङ्क्षा बनी ही रहेगी। इस तरह जबतक पुरुषार्थ से साध्याकाङ्क्षा की पूर्ति नहीं होगी, तबतक पुरुष की प्रवृत्ति न होगी और उपदेश भी

तब तक व्यर्थ ही रहेगा। अतः अन्त में अदृष्ट स्वर्गादि फल से ही साध्याकाङ्क्षा की पूर्ति करनी होगी। वहींसे साध्याकाङ्क्षा की निवृत्ति होगी।

साधन में तो 'उससे क्या करें?' इस तरह साध्य की आकाङ्क्षा होती है। परन्तु 'फल या सुख से क्या करें?' ऐसी आकाङ्क्षा नहीं होती। इस तरह अध्ययनविधि का अब यह आकार होगा कि 'अध्ययन से यथाक्रम अक्षरग्रहण, पदज्ञान, वाक्यार्थज्ञान तथा यज्ञानुष्ठान के द्वारा स्वर्गरूपी पुरुषार्थ प्राप्त करें।' यज्ञों से स्वर्ग का होना 'श्रुत' है। यज्ञादि के बिना केवल अध्ययन से ही स्वर्गकल्पना अयुक्त है। स्वर्ग सुख-साधन होने से ही यज्ञों में भी पुरुषों की प्रवृत्ति होगी। इस रीति से यज्ञानुष्ठान के कारण वाक्यार्थज्ञान और उसके कारण पदज्ञान, अक्षरग्रहण और अध्ययन में भी पुरुष की प्रवृत्ति हो सकेगी।

साक्षात् या परंपरा से जो पुरुषार्थ का कारण होता है, उसीमें पुरुष की प्रवृत्ति होती है। अतः एक ही पुरुषार्थरूप साध्य या भाव्य अपने साक्षात् कारण यज्ञानुष्ठान और परम्परागत कारण वाक्यार्थज्ञान, पदज्ञान, अक्षरग्रहण और अध्ययन सर्वत्र प्रवृत्ति करा देगा। अध्ययनविधि की सार्थकता तभी सिद्ध होती है। सम्पूर्ण विधिवाक्यों की यही रीति है। पुरुषार्थलाभ के बिना किसी भी विधिवाक्य की भाव्याकाङ्क्षा पूर्ण नहीं होती और उसके बिना विधि की चरितार्थता भी नहीं। इस तरह जब अध्ययनविधि से यह सिद्ध हो चुका कि समस्त वेद अर्थज्ञान द्वारा ही पुरुषार्थ के साधक होते हैं, तब तो अर्थवादादि वाक्यों का भी ऐसा ही अर्थज्ञान होना आवश्यक है, ताकि उनके ज्ञान-द्वारा पराम्परया पुरुषार्थ का लाभ हो। जब अर्थवादों का वाच्य अर्थ ऐसा नहीं है, तब

'लक्षणा' से स्तुतिरूप अर्थ लेकर विधिवाक्य के साथ उनकी एकवाक्यता समझनी चाहिये।

कहा जाता है कि 'जैसे 'वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत' (वसन्त ऋतु में ब्राह्मण अग्न्याधान करे) इस विधि की भाव्याकाङ्क्षा आहवनीय (होमयोग्य अग्निविशेष) से ही पूर्ण हो जाती है, जो कि स्वयं पुरुषार्थ नहीं है। इसी तरह अपुरुषार्थरूप अक्षरग्रहण से ही 'अध्येतव्यः' इस विधिकी भाव्याकाङ्क्षा क्यों न पूर्ण की जाय ?' परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि आधानविधि तो अङ्गविधि है। 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' इस प्रधान विधि के भाव्य स्वर्गफल से ही वह भी फलवान् है। अतः उसे पुरुषार्थ की आकाङ्क्षा नहीं है। अतएव वहाँ अपुरुषार्थ, किन्तु परम्परया पुरुषार्थ में उपयुक्त आहवनीय (अग्नि) से भी भाव्याकाङ्क्षा की पूर्ति मानी जाती है। किन्तु 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' यह अध्ययनविधि तो प्रधान विधि है। अतः इसकी भाव्याकाङ्क्षा बिना पुरुषार्थ के पूर्ण नहीं हो सकती।

इसपर फिर भी शङ्का होती है कि 'यदि पुरुषार्थ से ही विधि की भाव्याकाङ्क्षा पूर्ण होती है, तब तो अध्ययनविधि का साक्षात् ही स्वर्गरूप फल क्यों न मान लिया जाय? फिर वाक्यार्थज्ञान आदि की कल्पना क्यों की जाती है?' इसका उत्तर यही है कि जब अक्षरग्रहण, पदज्ञान, वाक्यार्थज्ञान तथा यज्ञानुष्ठान के द्वारा अध्ययनविधि का स्वर्गरूप पुरुषार्थ में पर्यवसान हो ही जाता है, तब अध्ययन का स्वतंत्र स्वर्गफलमान कल्पना गौरव क्यों स्वीकार किया जाय ? दृष्टफल के संभव होते अदृष्टफल की कल्पना करना अनुचित है। इसलिए लोकानुभवानुसार यज्ञ द्वारा ही अध्ययन को स्वर्ग का हेतु मानना उचित है।

जिस व्यापार के बाद जिसकी उत्पत्ति होती है। उसका वही फल होता है। जैसे कुठार चलाने का 'द्वैधीभाव' फल समझा जाता है। इसी तरह अध्ययन से अर्थज्ञान होता है, अतः वह दृष्टानुसारी अध्ययन का फल कहा जा सकता है। यद्यपि यह भी कहा जा सकता है कि 'इस तरह तो होमविधि का भी अग्नि में हवि आदि काप्रक्षेप ही फल मानना चाहिए, फिर वहाँ भी अदृष्ट स्वर्गादि फल क्यों माना जाय ?' पर यह ठीक नहीं। क्योंकि जो साक्षात् स्वयं ही पुरुषार्थ हो या पुरुषार्थ का साधन हो, वही फल हो सकता है। जिस विधिवाक्य में भाव्य की आकाङ्क्षा को पूर्ण करने के लिए अनेक क्रमिक पदार्थों की कल्पना से पुरुषार्थ लाभ हो सकता है, वहाँ उसी पुरुषार्थ में मध्यवर्ती दृष्ट पदार्थों द्वारा अदृष्ट फल से विधि की सफलता होती है। इसी से वहाँ अदृष्ट पुरुषार्थ साक्षात् प्रयोजन नहीं माना जाता। जैसे अध्ययनविधि से दृष्ट अक्षरग्रहणादि द्वारा अदृष्ट स्वर्गफल का लाभ हो सकता है। परन्तु होमविधि में तो होम के अनन्तर हवि का अग्नि में गिरना या जलना ही है। वह न स्वयं पुरुषार्थ ही है और न पुरुषार्थ का साधन। ऐसी स्थिति में वहाँ अगत्या होम का अदृष्ट ही साक्षात् पुरुषार्थ फल माना जाता है। ऐसा बिना माने होम में किसीकी प्रवृत्त नहीं हो सकती।

कहा जाता है कि 'अध्ययनविधि में अध्ययन का अक्षरग्रहणफल हो सकता है, क्योंकि वह अध्ययन का समीपवर्ती है। पूर्वोक्त रीत्या उसका परम्परया पुरुषार्थ से सम्बन्ध भी है। इसी तरह होमादि के समान अध्ययन का भी अदृष्ट स्वर्गादि भी साक्षात् फल हो सकता है। परन्तु वाक्यार्थज्ञान अध्ययन का फल कैसे हो सकता है ? क्योंकि वह तो न अध्ययन के अनन्तरभावी है, न स्वयं पुरुषार्थ ही है।'

यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि सभी विधिवाक्यों के विषय में मीमांसा में ऐसा विचार है कि 'व्रीहीनवहन्ति'। इस विधिवाक्य में व्रीहि का कूटना कहा गया है, जिसका फल भूसी मिटाना प्रत्यक्ष ही है। किन्तु वह पुरुषार्थ नहीं है अतः उसमें पुरुषप्रवृत्ति के लिए पुरुषार्थरूप भाव्य की आकांक्षा शान्त नहीं होती। उस आकांक्षा के पुरुषार्थपर्यवसान से पहले ही याग के लिए पुरोडाश का स्वर्गादिरूपी पुरुषार्थ के लिए यज्ञों का अन्य विधिवाक्यों से विधान होता है। अतएव उक्त पुरोडाशादि ही यज्ञ का और यज्ञादिक ही पुरुषार्थ का साधक होता है। अवघातादिक तो इन दोनों में से किसीका भी साधन नहीं है, इसीसे उसका पुरुषार्थ में पर्यवसान नहीं होता। किन्तु अवघातादि से पुरोडाश और यागादिरूपी साधनों का ही उपकार होता है। अवघात से लेकर पुरोडाश निर्माण तक जिन कार्यों का विधान होता है, जैसे 'तण्डुलान् पिनष्टि' (तण्डुलपेषण आदि), वे सब पुरोडाशादि की सिद्धि के लिए अवघातादि के द्वार अर्थात् व्यापारमात्र हैं। क्योंकि बिना पेषणादि-व्यापार के अवघातादि से पुरोडाश की सिद्धि ही नहीं हो सकती। इसी कारण पेषणादि का भी पुरुषार्थ में पर्यवसान नहीं होता। यह भी नहीं कह सकते कि 'पेषणादि अवधान और पुरोडाश के फल हैं।' ऐसा तब हो सकता, जब अवघातादि के विधान से प्रथम ही यह ज्ञात होता कि पेषणादि के फल पुरोडाशादि हैं।

यहाँ तो अवघातादि का ही विधान प्रथम है। पुरोडाश जिनसे बनता है, उन व्रीहियों के ही अवघात का विधान है। इससे प्रथम यही ज्ञात होता है कि अवघातादि पुरोडाशादि के साधक हैं। तब यह जिज्ञासा होती है कि किस

व्यापार से ? इसी जिज्ञासा को पेषणविधि पूर्ण करती है। इससे यह सिद्ध हुआ कि पुरोडाशादि पेषण का फल नहीं, किन्तु अवघातादिक का ही है। यहाँ यह कहा जा सकता है कि यदि अवघातादि रूप अङ्गविधियों में पुरुषार्थ का पर्यवसान नहीं है, तो होमविधियों में भी अदृष्ट पुरुषार्थ की कल्पना नहीं होनी चाहिए। क्योंकि हवन किये हुए द्रव्य के भस्मीभाव में लोग श्रद्धा करते हैं। उस श्रद्धा के अनुसार यह भी विधि बन सकती है, कि 'हुतं द्रव्यं भस्मीकुर्यात्' (होम किये हुए द्रव्य को भस्म कर दें)। भस्मीभाव में अदृष्टफल-साधनता अवगत है, अतः भस्मीभाव भी फलरूप है। ऐसी दशा में जब होम-विधि के समीप कोई अदृष्ट पुरुषार्थरूपी फल नहीं कहा गया है, तब इस भस्मीभावरूप अदृष्टफल से ही होम की भाव्याकाङ्क्षा पूर्ण हो सकती है। अदृष्ट पुरुषार्थ की कल्पना में कोई प्रमाण नहीं है।' परन्तु उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि हविर्दाह में श्रद्धा इसलिए होती है कि हवि के वैसे ही अदग्ध रहने पर अस्पृश्य-स्पर्शन आदि से यज्ञ में वैगुण्य दोष आ सकते हैं। ऐसी स्थिति में वैगुण्य-निवारणार्थ उक्त विधि के बिना भी दाह-श्रद्धा की उपपत्ति हो सकती थी, तब श्रद्धा से 'हुतं द्रव्यं भस्मीकुर्यात्' इस विधिवाक्य की कल्पना को कहाँ अवकाश रहता है ? कथंचित् उक्त विधिकल्पना मान भी लें, तो भी भस्म होना होम का फल नहीं कहा जा सकता। किन्तु अदृष्टरूपी पुरुषार्थ की उत्पत्ति में दाह की श्रद्धा को होम का व्यापारमात्र मान लेने से अनुमित विधि चारितार्थ हो सकती है। सारांश यही है कि 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि प्रधान विधिवाक्यों की अध्ययनविधि उनके अर्थों के ज्ञान और अनुष्ठान के द्वारा पुरुषार्थपर्य्यन्त पहुँचाती है। उक्त न्याय से जैसे पुरोडाश की सिद्धि के लिए विहित व्रीहि के अवघात का फल पुरोडाश ही है, वैसे ही वाक्यार्थ ज्ञान के

लिए विहित वेदाध्ययन का फल वाक्यार्थज्ञान ही है। जैसे पुरोडाश स्वयं पुरुषार्थ न होने पर भी यज्ञ द्वारा पुरुषार्थ का साधक होने से अवघात का फल होता है, वैसे ही यज्ञ द्वारा पुरुषार्थ का साधक होने से वाक्यार्थज्ञान वेदाध्ययन का फल है। जैसे 'व्रीहीनवहन्ति' इस वाक्य के अर्थ से ही मालूम होता है कि पुरोडाश व्रीहि का फल है। वैसे ही अध्ययनविधि के अर्थ से ही वेदार्थज्ञान अध्ययन का फल है—यह भी मालूम होता है। जैसे अवघात और पुरोडाश के मध्य में पेषणादि अवघात के फल नहीं हैं, किन्तु व्यापारमात्र हैं; वैसे ही अध्ययन और वाक्यार्थ-ज्ञान के बीच अक्षरग्रहणादि अध्ययन के फल नहीं, किन्तु अध्ययन के व्यापारमात्र हैं। तथा च अध्ययनविधि से विधिवाक्यों का अध्ययन, उससे अक्षर-ग्रहण द्वारा वाक्यार्थ-ज्ञान, उससे यज्ञ और यज्ञ से स्वर्गादि पुरुषार्थ प्राप्त होता है।

'यदेव विद्या करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति'—ज्ञान से, श्रद्धा से किया गया कर्म ही वीर्यवान् होता है। सारांश यह कि समस्त वेद अपने ज्ञान के द्वारा ही पुरुषार्थ का साधक है। तस्मात् विधिवाक्यों से विहित यज्ञादि कर्मों की प्रशंसा के लिए ही अर्थवाद वाक्य सार्थक होते हैं। यद्यपि प्रशंसा अर्थवादों का वाच्यार्थ नहीं है, तथापि लक्ष्यार्थ अवश्य है। लक्षणा में प्रमाण 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' यह वाक्य ही है। इसका अर्थ है—अर्थज्ञान के द्वारा समस्त वेद पुरुषार्थ का साधक है। अर्थवाद-वाक्य भी वेद के ही अन्तर्गत हैं। अतः वे भी अर्थज्ञान द्वारा पुरुषार्थ के साधक होने ही चाहिए। अर्थवादों का वाच्यार्थ सिद्धरूप है। अतः उसके ज्ञान से यज्ञादि क्रिया में पुरुष की प्रवृत्ति नहीं हो सकती, जिससे पुरुषार्थसिद्धि

हो सके। इसीलिए प्रवर्तक विधि-वाक्यों के साथ अर्थवाद-वाक्यों की एकवाक्यता होती है।

एकवाक्यता से ही अर्थवादों में पुरुषार्थ-साधकता हो सकती है। वाच्यार्थ से एकवाक्यता सम्भव नहीं। अतः लक्षणा से प्रशंसा ही अर्थवादों का अर्थ होता है। "अतः प्रशस्तेनानेन यज्ञेन स्वर्गं भावयेत् ।"—यह यज्ञ प्रशस्त है, इसके द्वारा स्वर्गभावन करना चाहिए, यह सारांश निकलता है।

फिर भी कहा जाता है कि 'यद्यपि पूर्वोक्त रीति से अध्ययन-विधि से अर्थज्ञानपर्यन्त अध्ययन निश्चित होता है, परन्तु उसके बाद अध्ययनविधि निर्व्यापार हो जायगी। 'यदेव विद्यया करोति' इत्यादि श्रुति भी इतना ही बतलाती है कि वाक्यार्थ-ज्ञान यज्ञ का साधन है, इसके अनन्तर यह भी निर्व्यापार हो जायगी। ऐसी स्थिति में वाक्यार्थज्ञान यज्ञ के द्वारा स्वर्गादि-रूप पुरुषाथ का साधक है—यह किस प्रकार सिद्ध हो गया ?' परन्तु इसका समाधान यही है कि जैसे 'अध्ययनेन वाक्यार्थज्ञानं भावयेत्'—अध्ययन से वेदवाक्यों का अर्थज्ञान प्राप्त करें, यह अध्ययनविधि का व्यापार होता है और इससे वाकयार्थज्ञान अध्ययन का फल सिद्ध होता है। इसी तरह 'यदेव विद्यया करोति' इस श्रुति के द्वारा भी "ज्ञानेन कर्म भावयेत्" (ज्ञान से कर्म सम्पादन करे।) इस विधि की कल्पना होगी, उससे वाकयार्थ-ज्ञान की क्रत्वर्थता सिद्ध होगी। उसके अनन्तर "स्वर्गकामो यजेत्", आदि विधिवाक्यों से 'यागेनस्वर्गं भावयेत्' (याग से स्वर्ग की भावना करे) इस व्यापार द्वारा याग भावना-भाव्य होने से यज्ञादि का स्वर्गादि फल सिद्ध होता है। इस तरह यज्ञ

की साक्षात् पुरुषार्थसाधकता एवं यागार्थ कर्मविधायक वैदिक वाक्यार्थज्ञान एवं ज्ञानार्थ वेदाध्ययन की भी परम्परा से पुरुषार्थसाधकता सिद्ध हो जाती है।

यहाँ कहा जाता है कि 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि प्रधान विधिवाक्यों का तात्पर्य अपने अर्थज्ञान कराने ही में होने से अध्ययनविधि का उनके अर्थज्ञान कराने में पर्यवसान हो सकता है, परन्तु "व्रीहीनवहन्ति" (धान कूटे) इत्यादि अङ्ग-विधियों के अर्थज्ञान में अध्ययनविधि का पर्यवसान नहीं हो सकता क्योंकि उनका तात्पर्य अपना अर्थज्ञान कराने में समाप्त नहीं होता। जैसे प्रधान विधियों के बल से मंत्रों के अर्थ और शब्द दोनों गृहीत होते हैं। अतएव कर्म के समय मंत्रों का पाठ होता है। इसी तरह प्रधान विधिवाक्यों के बल से अङ्ग-विधियों का भी स्वार्थ प्रतिपादनमात्र में तात्पर्य नहीं है, किन्तु स्वाक्षरपाठ में भी तात्पर्य होगा। इस दृष्टि स जैसे मन्त्रों के सम्बन्ध में "अध्ययनेनार्थं ज्ञात्वा पाठं भावयेत्" (अध्ययन से अर्थ जानकर पाठ करें) इस प्रकार अध्ययनविधि का समन्वय होता है, उसी प्रकार अङ्गविधियों से भी समन्वय होगा। निष्कर्ष यह कि अध्ययनविधियों का अर्थ-ज्ञानपर्यन्त ही व्यापार होता है—यह नहीं कहा जा सकता।

पर इसका भी समाधान यही है कि मंत्रों का कर्म के समय पाठ प्रधान-विधियों से नहीं ज्ञात होता। किंतु "उरू प्रथस्वेति पुरोडाशं प्रथयति "उरू प्रथस्व" (इस मन्त्र से पुरोडाश की प्रथा करे) इत्यादि अन्यान्य विधियों से ही मन्त्रों का पाठ प्राप्त होता है, परन्तु अङ्ग विधियों के कर्मकाल में पाठ का विधायक कोई विधिवाक्य नहीं है। अतः अंगविधियों के सम्बन्ध में भी अर्थ-

ज्ञानपर्यन्त ही अध्ययनविधि का व्यापार होता है। 'समिधो यजति'– इत्यादि प्रयाजादि वाक्य प्रयाज आदि की प्रधान कर्माङ्गता मात्र बोधन कराते हैं, उनका पाठ विधान नहीं करते हैं। प्रधान विधिवाक्य भी अंगविधियों के अक्षरपाठ में प्रमाण नहीं है, क्योंकि प्रधान विधि-विहित यज्ञ स्वर्गरूप अदृष्ट के साधक हैं, अतः उसे अदृष्ट उपकार की ही अपेक्षा है। उसकी पूर्ति प्रयाज आदि अङ्ग-याग-साध्य अदृष्ट से हो जाती है। अक्षर-पाठ तो लोकदृष्ट ही है, उसमें प्रधान विधि का प्रामाण्य कथमपि नहीं है। अंगविधियों का उनके अर्थों के अनुष्ठान द्वारा यज्ञ में संबंध हो सकता है। तब बिना किसी प्रमाण के कर्म-काल में उनके पाठ की कल्पना कथमपि सङ्गत नहीं हो सकती। यदि बिना प्रमाण के भी पाठ-कल्पना हो सकती, तो "उरू प्रथस्वेति पुरोडाशं प्रथयति" इत्यादि विधि-वाक्य व्यर्थ ही हो जाते।

इसपर भी कहा जाता है कि 'अध्ययनविधि तो समस्त वेद के लिए है, परन्तु वेदान्त-वाक्यों की तो यज्ञों में उपकारकता किसी प्रकार सिद्ध नहीं हो सकती।' पर यह तर्क भी युक्तियुक्त नहीं है। कारण जैसे अग्न्याधान-विधिवाक्य दूर से ही यज्ञोपकारी होता है, उसी प्रकार वेदान्त-वाक्य देह, इन्द्रियादि से भिन्न नित्य जीवात्मा का ज्ञान कराकर यज्ञोपकारी होते हैं। बात यह है कि नित्यात्मबोध के बिना देहात्मवादी प्राणी की पारलौकिक यज्ञादि में प्रवृत्ति हो ही नहीं सकती।

यद्यपि कहा जा सकता है कि 'आत्मा का ज्ञान यज्ञादि की तरह क्रियारूप नहीं है, अतः उसका विधान अध्ययन-विधि से कैसे हो सकेगा ?' पर यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः" इत्यादि विधिवाक्यों से आत्मा की उपासना प्रतीत होती है। तदर्थ आत्मस्वरूप प्रतिपादन आवश्यक है और फिर उसके लिए वेदान्तवाक्य भी सार्थक हैं। अथवा सफल एवं निश्चित अर्थ का बोधक होने से समस्त वेदों का प्रामाण्य है। जैसे विधि-वाक्य फलवान् निश्चित अर्थ के बोधक हैं, वैसे ही वेदान्त भी। वेदान्त-जन्य ब्रह्म-साक्षात्कार सकल अनर्थों का निवर्तक एवं परमानन्द का प्रापक होने से वेदान्त भी सफल ही है। इस प्रकार सफल स्वार्थबोध के द्वारा वेद पुरुषार्थ का साधक है।

यद्यपि अर्थवादों के द्वारा किसी क्रिया का विधान नहीं होता, साथ ही स्वर्गादितुल्य किसी भाव्यांश क्रियाफल का भी प्रतिपादन अर्थवाद नहीं करते और न 'व्रीहीनवहन्ति' के तुल्य अर्थवादों के द्वारा इतिकर्तव्यता का ही प्रतिपादन होता है, तथापि विधिवाक्यों से विहित यज्ञ आदि की प्रशंसा ही अर्थवाद-वाक्यों का लक्ष्य अर्थ है। तभी विधि के साथ एकवाक्यता द्वारा 'प्रशस्तेनानेन यज्ञेन स्वर्गं भावयेत्' यह अर्थ निष्पन्न होता है।

विध्यर्थ भावना-विचार : ४ :

कहा जाता है कि जैसे अध्ययनविधि से यह नहीं सिद्ध होता कि अर्थवादों के वाच्यार्थ का ज्ञान उनके अध्ययन का फल है, क्योंकि वाच्यार्थ सिद्धरूप है, वह पुरुषार्थ का साधक नहीं हो सकता है, वैसे ही प्रशंसारूप लक्ष्यार्थ का ज्ञान भी तब तक अर्थवादों के अध्ययन का फल नहीं हो सकता है जब तक प्राशस्त्यज्ञान की कर्तव्यता में कोई दृढ़ प्रमाण नहीं मिलता। राग-

वशात् या विधिवशात् जिस कार्य में कर्तव्यता नहीं ज्ञात होती, वह किसी क्रिया का फल नहीं हुआ करता—यह लोकसिद्ध बात है। उसी कर्तव्यता को गौण भाव्यता भी कहा जाता है। इसीलिए कर्तव्य, भाव्य, फल इन तीनों शब्दों का एक ही अर्थ होता है। अर्थवादों का अर्थ जब विध्यर्थ भावना के तीनों ही अंशों में से किसीमें नहीं आता, ऐसी स्थिति में अर्थवादों का प्रशंसारूप लक्ष्यार्थ अध्ययनविधि का फल नहीं हो सकता। फिर अध्ययनविधि से उसकी कर्तव्यता भी कैसे सिद्ध होगी?" परन्तु यह ठीक नहीं है। क्योंकि यद्यपि प्रशंसारूपी अर्थवादों का लक्ष्यार्थ आर्थी-भावना के साध्य, साधन, इतिकर्तव्यता का इनमें से किसीमें नहीं आता, तथापि अध्ययनविधि की शाब्दी भावना में उसका निवेश हो जाता है। विधिवाक्यों में लिङ्, लोट् या तव्य प्रत्यय अवश्य होते हैं। उनका भावना ही अर्थ होता है। वह भावना भी दो प्रकार की होती है—एक आर्थी भावना, दूसरी शाब्दी भावना। जैसे 'यजेत' से 'यज्' प्रकृति है, लिङ्-प्रत्यय है। लिङ् में लिङ्त्व और आख्यातत्व ये दो धर्म होते हैं। आख्यातत्व दसों लकारों में रहता है, किन्तु लिङ्त्वधर्म लिङ् में ही रहता है। आख्यात का अर्थ है—आर्थीभावना और लिङ् का शाब्दी भावना। "अर्थयते इत्यर्थः" इस व्युत्पत्ति से फलकामना-वाला पुरुष ही 'अर्थ' शब्द का वाच्य है। उसीकी भावना आर्थी-भावना कही जाती है। इस प्रकार भावयिता पुरुष में रहनेवाला वह यत्न-विशेष आर्थी-भावना कहा जाता है, जिससे फल-भावना पैदा होती है। उस आर्थी-भावना के तीन अंश होते हैं—'किं भावयेत्', 'कथं भावयेत्' एवं 'केन भावयेत्'। अर्थात् साध्य, साधन एवं इतिकर्तव्यता (प्रक्रिया)। स्वर्ग आदि से साध्याकांक्षा पूरी होती है, याग से साधनविषयक आकांक्षा पूरी होती है। प्रयाज

आदि रूप अङ्गों से इतिकर्तव्यता की आकांक्षा पूरी होती है।

'रथो गच्छति' (रथ जाता है) इत्यादि स्थलों में अचेतन की प्रवृत्ति आख्यात का लाक्षणिक अर्थ है। मुख्य आर्थी-भावना तो पुरुष का आन्तरिक प्रयत्न ही है, और वही 'पचति', 'खादति' आदि सभी क्रियाओं के तिबादि आख्यातों का अर्थ है। आख्यातों का क्रियासामान्य लक्ष्यार्थ होता है, वह सचेतन, अचेतन–सबमें रह सकता है। अतएव माधवाचार्य का यह कथन भी संगत होता है—"सर्वधात्वर्थसम्बद्धः करोत्यर्थो हि भावना।" अर्थात् सब धात्वर्थों से सम्बद्ध क्रिया (करोत्यर्थ) ही भावना है।

नैयायिक भी यही मानते हैं—

"भावनैव हि यत्नात्मा सर्वाख्यातस्य गोचरः।
तया विवरणाध्रौव्यादाक्षेपानुपपत्तितः॥"

अर्थात् पुरुषों का आन्तरिक प्रयत्न (प्रवृत्ति) रूप भावना ही सब आख्यातों का अर्थ है। "भोजनाय काष्ठादिना पाको भवतु", "स्वर्गाय हविरादिना यागो भवतु" (भोजन के लिए काष्ठादि से पाक सम्पन्न हो, स्वर्ग के लिए हवि आदि से याग सम्पन्न हो) इस तरह इच्छा के समान ही इस भावना का आकार होता है। इस प्रवृत्ति का भोजन एवं स्वर्ग आदि से जो सम्बन्ध है, उसीको फलता, भाव्यता या उद्देश्यता कहते हैं। इसीसे भोजन, स्वर्ग आदि फल उद्देश्य या भाव्य कहे जाते हैं। उनमें भी सुखरूप एवं दुःखाभावरूप स्वर्गादि मुख्यफल का है, भोजनादि सुखादि - साधन होने से गौणफल है। प्रवृत्ति, पाक यागादि से जो सम्बन्ध है, उसीको साध्यता या विधेयता कहा जाता है। फलतः पाक एवं याग आदि साध्य, विधेय या करण कहे जाते हैं। पाक, याग आदि क्रियाओं के साधन काष्ठ, हवि आदि सिद्धपदार्थ उपादान कहे जाते हैं—

"सिद्धं साध्यं फलञ्चेति प्रवृत्तेर्विषयस्त्रिधा।
तत्र सिद्धमुपादानं क्रिया साध्यं फलं सुखम्॥"

पार्थसारथि मिश्र के अनुसार भावना व्यापार-विशेषरूप ही है, जिससे कि दूसरी क्रियाएँ उत्पन्न होती हैं। जैसे पुरुष के आन्तरिक व्यापार से पाकक्रिया होती है, उसी तरह अन्यत्र भी समझना चाहिए। वह व्यापाररूप भावना प्रायः चेतन में ही रहती है, परन्तु चेतन में ही रहने का सर्वथा नियम नहीं है। अतएव "रथो गच्छति" (रथ जाता है) इत्यादि वाक्योंमें चक्र-भ्रमणरूप भावना अचेतन की ही है, उसीसे अग्रिमदेश-प्राप्ति के लिए रथ में गमनक्रिया होती है। इसलिए "रथो गच्छति" के 'ति' आख्यान का भी भावनारूप मुख्य ही अर्थ है। लक्षणा की आवश्यकता नहीं है। लोक में जैसे 'पचति' क्रिया की आर्थी-भावना का पाक भाव्य है, काष्ठ आदि करण हैं, अग्नि-ध्मान [आग, फूकना] आदि इतिकर्तव्यता है, वैसे ही वैदिक वाक्यों में भी आर्थी भावना होती है। लोक में तीनों अंश लौकिक होते हैं, वेद में तीनों अंश वैदिक ही होते हैं, क्योंकि भावना वेदैकगम्य है। इस आर्थी-भावना का स्वर्ग आदि फल है, यागादि साध्य (अनुष्ठेय) है। स्वर्गादि के प्रति यागादि साधन भी है। प्रयाजादि इतिकर्तव्यता है। यागादि के प्रति हवि आदि साधन हैं। इनमें अर्थवाद के लक्ष्यार्थ प्रशंसा का कुछ भी उपयोग नहीं है।

तथापि विधिरूप लिङादि आख्यातों का असाधारण अर्थ दूसरी भावना है, उसीको शब्द-भावना और अभिधा-भावना कहा जाता है। उसमें भी भाव्य, करण एवं इतिकर्तव्यता होती है। इस शाब्दी भावना का भाव्य पूर्वोक्त यागसम्बन्धिनी पुरुषप्रवृत्तिरूप आर्थी भावना है। लिङादि सम्बन्ध का ज्ञान ही